युग शक्ति गायत्री का अभिनव अवतरण

युगशक्ति गायत्री का अभिनव अवतरण

लेखक :
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य :२२.०० रुपये

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
१. युगशक्ति गायत्री का अभिनव अवतरण	३
२. सूक्ष्म वातावरण के अनुकूलन की प्रचंड प्रक्रिया	६
३. युग-परिवर्तन के उपयुक्त वातावरण बनाना होगा	१७
४. युग-परिवर्तन में गायत्री महाशक्ति का अवतरण	२५
५. युगशक्ति के रूप में गायत्री चेतना का अरुणोदय	३३
६. देवत्व का अवतरण युग साधन गायत्री के माध्यम से	४०
७. गायत्री उपासना में व्यक्तित्व का समग्र उत्कर्ष	४७
८. व्यक्तित्व के विकास में, गायत्री साधना का उपयोग	५३
९. गायत्री जप और उसकी सामूहिक शक्ति	५९
१०. युगशक्ति का अवतरण और प्रसार विस्तार	६५
११. गायत्री ही गुरु मंत्र है	७३
१२. गायत्री अभियान से व्यक्ति और समाज का अभिनव निर्माण	७९
१३. युग-क्रांति में गायत्री यज्ञों की भूमिका	८७
१४. त्रिपदा गायत्री—ब्रह्म विद्या की त्रिवेणी	९५
१५. गायत्री की प्रथम प्रेरणा—श्रम, व्यवस्था और संयम	१०३
१६. गायत्री की द्वितीय प्रेरणा—सद्विवेक, सत्साहित्य और स्वावलंबन	१०९
१७. गायत्री की तृतीय प्रेरणा—एकता, समता और सहकारिता	११५

युगशक्ति गायत्री का अभिनव अवतरण

आत्मबल संपन्न व्यक्तित्व का निर्माण-गायत्री शक्ति से

❋

नव युग में मानव समाज की आस्थाएँ-आकांक्षाएँ, प्रथा-परंपराएँ, रीति-नीतियाँ, गतिविधियाँ किस स्तर की हों ? किन मान्यताओं से अनुप्राणित हों, इसका निर्णय-निर्धारण किया जाना है। मात्र विचार क्षेत्र की अवांछनीयताओं को हटा देना ही पर्याप्त न होगा। मूढ़-मान्यताओं को हटा देने पर जो रिक्तता उत्पन्न होगी, उसकी पूर्ति परिष्कृत आस्थाओं को ही करनी होगी। स्वास्थ्य, शिक्षा, आजीविका, सुरक्षा जैसी सुविधाएँ आवश्यक तो हैं और उनके उपार्जन-अभिवर्धन में किसी को कोई आपत्ति भी नहीं हो सकती किंतु इन साधनों तक ही सीमित रहकर किसी समस्या का समाधान नहीं होता। उनका उपयोग करने वाली चेतना का परिष्कृत होना आवश्यक है; अन्यथा बढ़े हुए सुविधा-साधन दुष्ट बुद्धि के हाथ में पड़कर नई समस्याएँ और नई विपत्तियाँ उत्पन्न करेंगे। दुष्ट जब शारीरिक दृष्टि से बलिष्ठ होता है, तो क्रूर-कर्मों पर उतारू होता है और आततायी जैसा भयंकर बनता है। चतुर और बुद्धिमान होने पर ठगने, सताने के कुचक्र रचता है। धनी होने पर व्यसन और अहंकार के सरंजाम जुटाता है और अपने तथा दूसरों के लिए क्लेश-विद्वेष के सरंजाम खड़े करता है। अन्यान्य कला-कौशल गिराने और लुभाने के लिए प्रयुक्त होते हैं। सुरक्षा-सामग्री का उपयोग दुर्बलों के उत्पीड़न में होता है। विज्ञान जैसे महत्त्वपूर्ण

आधार को विषाक्तता और विनाश के रोमांचकारी प्रयोजनों में प्रयुक्त होते देखा जाता है। न्याय और विकास के लिए नियुक्त किये गये अधिकारी 'मेंड़ ने खेत खाया' कहने की भूमिका निभाते देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि सुख-शांति की वृद्धि के लिए साधनों की उपयोगिता तो है, पर उसके साथ अनिवार्य शर्त यह भी है कि इनका उपयोग करने वाली चेतना में शालीनता और दूरदर्शिता का अभाव न हो।

अपने युग की सबसे बड़ी विडंबना एक ही है कि साधन तो बढ़ते गये किंतु उनका उपयोग करने वाली अंतःचेतना का स्तर ऊँचा उठाने के स्थान पर उलटा गिरता चला गया। फलतः बढ़ी हुई समृद्धि, उत्थान के लिए प्रयुक्त न हो सकी। आंतरिक भ्रष्टता ने दुष्टता की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कीं और उनके फलस्वरूप विपत्तियों की सर्वनाशी घटाएँ घिर आईं। समृद्धि के साथ शालीनता का गुथा रहना आवश्यक है। अन्यथा प्रगति के नाम पर किया गया श्रम दुर्गति की विभीषिकाएँ ही उत्पन्न करता चला जायेगा।

व्यक्तित्व की उत्कृष्टता ही मनुष्य की सबसे बड़ी सफलता और संपन्नता है, उसी के आधार पर मनुष्य सुसंस्कृत बनता है। आत्म संतोष, श्रद्धा-सम्मान, जन सहयोग एवं दैवी अनुग्रह प्राप्त कर सकने में सफल होता है। यही वह तत्त्व है, जिसके सहारे भौतिक जीवन में बढ़ी-चढ़ी उपलब्धियाँ करतलगत होती हैं। साधनों का सही उपार्जन और सही उपयोग भी उसी आधार पर बन पड़ता है। इसके अभाव में इंद्र और कुबेर जैसे सुविधा-साधन होते हुए भी मनुष्य खिन्न और विपन्न ही बना रहेगा। स्वयं उद्विग्न रहेगा, दुःख सहेगा और समीपवर्ती लोगों के लिए संकट एवं विक्षोभ उत्पन्न करता रहेगा।

अपने युग की सबसे बड़ी आवश्यकता व्यक्तित्वों की अंतःभूमिका को अधिक सुसंस्कृत और समुन्नत बनाने की है। यह कार्य-समृद्धि संवर्धन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसकी उपेक्षा की जाती रहेगी, तो तथाकथित प्रगतिशीलता पिछड़ेपन से भी अधिक

महँगी पड़ेगी। नव युग की सुखद परिस्थितियों की संभावना का एक मात्र आधार यही है कि व्यक्ति का अंतराल उत्कृष्ट बनेगा। दृष्टिकोण में उदारता और चरित्र में शालीनता का समावेश होगा, तो निश्चित रूप से वैयक्तिक जीवन क्रम में देवत्व उभरेगा। ऐसे देव मानवों की सामूहिक गतिविधियाँ स्वर्गोपम परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं। मनुष्य में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण का उपहार लेकर आने वाले नवयुग का सारा ढाँचा ही इस आधारशिला पर खड़ा हुआ है कि व्यक्ति का अंतराल परिष्कृत होना चाहिए। उसे विवेक, चरित्र और व्यवहार की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट होना चाहिए। विकास की सर्वतोमुखी आवश्यकताओं की पूर्ति इसी आधार पर संभव है।

प्रश्न यह उठता है कि अंतराल को स्पर्श किस उपकरण से किया जाय ? उसे सुधारने के लिए क्या उपाय काम में लाया जाय ? इस दिशा में अब तक दंड का भय, पुरस्कार का प्रलोभन और सज्जनता का प्रशिक्षण यह तीन ही उपाय काम में लाये जाते हैं। किंतु देखा गया है कि इन तीनों की पहुँच बहुत उथली है, उनसे शरीर और मस्तिष्क पर ही थोड़ा-सा प्रभाव पड़ता है। वह भी इतना उथला होता है कि अंतराल में जमी आस्थाओं का स्तर यदि निकृष्टता का अभ्यस्त और कुसंस्कारी बन चुका है, तो इन ऊपरी उपचारों का, व्यक्तित्व का स्तर बदलने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। पुलिस, जेल, कठोरता संपन्न कानूनों की कमी नहीं।' प्रतिरोध और दंड-व्यवस्था के लिए भी खर्चीला तंत्र मौजूद है, पर देखा जाता है कि मनुष्य की चतुरता इस पकड़ से बच जाने के अनेकों तरीके निकाल लेती है। सज्जनता के पुरस्कार पाने में देर लगती है और मात्रा भी थोड़ी होती है। धूर्तता सोचती है कि उससे तो कहीं अधिक कमाई छद्म उपायों के सहारे की जा सकती है। इसी प्रकार नीतिमत्ता के पक्ष में किया गया प्रशिक्षण भी एक प्रकार से बेकार ही चला जाता है। देखा यह गया है कि अनीति अपनाने वाले भी नीति के सिद्धांतों का जोर-शोर से समर्थन

करते हैं। करनी कुछ भी हो कथनी में अनाचारों की भर्त्सना और आदर्शों की प्रशंसा ही करते पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि नीति के पक्ष में उनका मस्तिष्क पहले से ही प्रशिक्षित है। पढ़े को क्या पढ़ाया जाय ? जागते को क्या जगाया जाय ? शरीर पर लगाये गये बंधन, मन को दी गई सिखावन अन्य प्रयोजनों में भले ही सफल हो सकें, अंतराल को उत्कृष्टता की दिशा में ले जाने का उद्देश्य बहुत ही सीमित मात्रा में पूरा कर पाते हैं।

मानवी सत्ता का एक अत्यंत गुप्त और अत्यंत प्रकट रहस्य यह है कि व्यक्तित्व की जड़ें आस्थाओं के अंतराल में रहती हैं। कोई क्या है, इसे जानने के लिए उसका शरीर, मन और वैभव देखने से कुछ भी काम नहीं चलेगा। स्थिति और सामर्थ्य का मूल्यांकन उसके अंतराल का स्तर जानने के उपरांत ही हो सकता है। समूची सामर्थ्य उसी केंद्र में छिपी पड़ी है। आस्था के अनुरूप आकांक्षा उठती है। आकांक्षा की पूर्ति में मस्तिष्क कुशल वकील की तरह बिना उचित-अनुचित की जांच-पड़ताल किये पूरी तत्परता के साथ लग जाता है। मन का गुलाम शरीर है। शरीर वफादार नौकर की तरह अपने मालिक मन की आज्ञा का पालन करने में लगा रहता है। यंत्र अपने चालक का आज्ञानुवर्ती होता है। शरीर की समस्त हलचलें मन के निर्देश का अनुगमन करती हैं। मन आकांक्षाओं से प्रेरित होता है और आकांक्षाएँ आस्थाओं के अनुरूप ही उठती हैं। तथ्यतः आस्थाओं का केंद्र अंतःकरण ही मानवी-सत्ता का सर्वस्व है।

आस्थाओं का मर्मस्थल अत्यंत गहरा है। उतनी गहराई तक राजकीय कानून, सामाजिक नियम तथा प्रशिक्षण जैसे उपचार यत्किंचित ही पहुँच पाते हैं। आस्थाओं की प्रबल-प्रेरणा इन सब आवरणों को तोड़कर रख देती है। ऐसा न होता तो धर्मोपदेशक, धर्म विरोधी आचरण क्यों करते ? लोकसेवा का आवरण ओढ़े सत्ताधारी क्यों लोकअहित की गतिविधियों में छद्मरूप से निरत रहते ? शांति और व्यवस्था बनाये रहने के लिए नियुक्त अधिकारी

क्यों गुप्त रूप से अपराधी तत्त्वों के साथ साठ-गाँठ रखते ? स्पष्ट है कि सारे नियम प्रतिबंध, तर्क और आदर्श एक कोने पर रखे रह जाते हैं और आस्थाओं में घुसी निकृष्टता अपनी विजय-दुंदुभी बजाती रहती है।

आज की युग विपन्नता के मूल में आस्थाओं का दुर्भिक्ष ही एक मात्र कारण है। इस संकट को कैसे दूर किया जाये, जबकि प्रभावशाली समझे जाने वाले उपचार भी उस गहराई तक पहुँचने और आवश्यक परिवर्तन प्रस्तुत करने में असमर्थ रहते हैं।

उत्तर एक ही है आस्थाओं के सहारे आस्थाओं का उपचार किया जाय। जंगली हाथी को पालतू हाथी पकड़कर लाते हैं। काँटे से काँटा निकालते हैं और होम्योपैथी प्रतिपादन के अनुसार विष ही विष की औषधि है। उत्कृष्ट आस्थाओं की स्थापना से ही निकृष्ट आस्थाओं का निराकरण होता है। लाठी का जबाव लाठी और घूँसे का जबाव घूँसा वाली उक्ति सर्वविदित है। लोहे को लोहा काटता है। गड्ढे में गिरे हुए को गड्ढे में उतरकर ही निकालना पड़ता है। आस्थाओं में घुसी हुई निकृष्टता का निराकरण उस क्षेत्र में उत्कृष्टता की मान्यताएँ स्थापित करने से ही संभव है। व्यक्तित्व को परिष्कृत करने का प्रमुख उपाय यही है।

उपासना और साधना का उद्देश्य अंतःक्षेत्र में उच्चस्तरीय श्रद्धा का आरोपण, परिपोषण एवं अभिवर्धन करना है। शरीर से शरीर लड़ते हैं। विचारों से विचार जूझते हैं और आस्थाओं में आस्थाएँ ही परिवर्तन एवं परिष्कार उत्पन्न करती हैं।

गायत्री में सन्निहित ब्रह्मविद्या का तत्त्वज्ञान अंतःकरण को प्रभावित करके, उसमें सत्श्रद्धा का अभिवर्धन करता है। स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिंतन जैसी भाव-संवेदनाओं को छू सकने वाला प्रशिक्षण ही अंतरात्मा को बदलने एवं सुधारने में समर्थ हो सकता है। जीव का ब्रह्म से, आत्मा का परमात्मा से, क्षुद्रता का महानता से, संयोग करा देना ही योग है। योग का तात्पर्य है—सामान्य को असामान्य से, व्यवहार को आदर्श से जोड़ देना। उस उपचार से

आस्थाओं के परिष्कार की आवश्यकता भली प्रकार पूरी हो सकती है।

आस्था क्षेत्र को प्रभावित करने वाला दूसरा पक्ष है—तप। इसे कुसंस्कारों के उन्मूलन और सुसंस्कारों के संस्थापन का प्रबल पुरुषार्थ कहा ज़ा सकता है। इसे अंतःक्षेत्र का क्रांतिकारी संघर्ष कहा जा सकता है। तप वर्ग में उपासना पद्धति का सारा कलेवर समा जाता है। जप, ध्यान, अनुष्ठान, व्रत और संयम, तितिक्षा के अनेकानेक धर्मानुष्ठान एवं साधना-विधान तप की परिधि में आते हैं। इनका उद्देश्य है, कुसंस्कारों को उखाड़ फेंकना और उनके स्थान पर सुसंस्कारों की प्रतिष्ठापना में सफल होना। व्यक्तित्व के उत्कर्ष में आस्थाओं के परिष्कार में योगपरक तत्त्व ज्ञान और तप परक साधना विधान सुनिश्चित सफलता उत्पन्न करते हैं।

समर्थता भी भौतिक-वैभव की तरह ही आत्मिक क्षेत्र की भी होती है, जिसे ओजस, तेजस वर्चस आदि नामों से पुकारते हैं। साधनाबल से मनोबल और मनोबल से आत्मबल असंख्य गुना माना जाता है। महामानवों और सिद्धपुरुषों में इसी आत्मबल की मात्रा बढ़ी-चढ़ी होती है। चमत्कारी सिद्धियाँ और कुछ नहीं आत्मबल की चमकती हुई फुलझड़ियाँ हैं। अतींद्रिय क्षमताओं से व्यक्ति सामान्यों की तुलना में अधिक समर्थ एवं श्रद्धास्पद माने जाते हैं। इन विशेषताओं से युक्त व्यक्ति भी भौतिक सफलताएँ प्राप्त करने वालों की तुलना में कम नहीं वरन् अधिक सामर्थ्यवान ही माने जाते हैं। मनोबल के सहारे वे स्वयं ऊँचे उठते हैं और अपने कंधों पर चढ़ाकर अनेकों को आगे बढ़ाते हैं। इस गरिमा को प्राप्त करने के लिए साधना विज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है। गायत्री का महत्त्व इसी दृष्टि से सर्वोपरि है, आने वाले युग की समर्थता का आधार इसी दृष्टि से गायत्री ही हो सकती है, होगी।

❐ ❐

सूक्ष्म वातावरण के अनुकूलन की प्रचंड प्रक्रिया

❋

प्रखर व्यक्तित्वों से वातावरण प्रभावित होता है, यह सच है। ओजस्वी, मनस्वी और तपस्वी स्तर की प्रतिभाएँ अपनी प्रचंड ऊर्जा से वातावरण को गरम करती हैं और गर्मी से परिस्थितियों के प्रवाह में असाधारण मोड़ आते और परिवर्तन होते देखे गये हैं। इस तथ्य से भिन्न प्रतीत होने वाला एक और भी सत्य है कि वातावरण से व्यक्ति प्रभावित होता है। समय के प्रवाह में तिनकों और पत्तों की तरह अगणित व्यक्ति बहते चले जाते हैं। आँधी के साथ धूलि से लेकर छत, छप्परों तक न जाने क्या-क्या उड़ता चला जाता है ? आँधी का रुख जिधर होता है, उधर ही पेड़ों की डालियाँ और पौधों की कमरें झुकीं दिखाई पड़ती हैं। इसे प्रवाह का दबाव ही कह सकते हैं।

युग-परिवर्तन के दोनों ही पक्ष हैं। तपस्वी व्यक्ति अपनी प्रचंड आत्म शक्ति से वातावरण को प्रभावित करते हैं और अभीष्ट परिवर्तन के लिए व्यापक अनुकूलता उत्पन्न करते हैं। दूसरा पक्ष यह है कि विशिष्ट उपायों के द्वारा वातावरण में गर्मी उत्पन्न की जाती है और उस व्यापक प्रखरता के दबाव से सब कुछ सहज ही बदलता चला जाता है। इन दोनों पक्षों में से कौन प्रधान है, कौन गौण ? इस पर चर्चा करना व्यर्थ है। हमें यही मानकर चलना होगा कि दोनों ही तथ्य अपने-अपने स्थान पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं और दोनों की ही उपयोगिता है। दोनों को परस्परपूरक भी कह सकते हैं। युग-सृजेताओं को इन दोनों के ही परिपोषण में संलग्न रहना है।

युग परिवर्तन की ऊर्जा उत्पन्न करने वाले व्यक्तित्व का निर्माण तपश्चर्या के माध्यम से ही हो सकता है। भौतिक-प्रतिभाओं के धनी भी कई प्रकार की सफलताएँ उत्पन्न करते देखे गये हैं।

किंतु वे सभी होते पदार्थपरक ही हैं। मनुष्य की शारीरिक, बौद्धिक क्षमताएँ तथा साधनों की सुविधा-संपदाएँ कितने ही महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न करती देखी गई हैं, पर वे सभी होती जागतिक ही हैं। धन के आधार पर विशालकाय भवन और कल-कारखाने खड़े किये जा सकते हैं। सुविधा-साधन बढ़ाने के कितने ही अन्य आधारों का सरंजाम जुटाया जा सकता है। समस्याओं का सामयिक समाधान करने वाले दबाव भी शक्ति-सामर्थ्य के सहारे उत्पन्न किये जाते हैं। विज्ञान, अर्थ-साधन, बुद्धि-कौशल एवं परिश्रम के सहारे सुविधा-संवर्धन की व्यवस्था बनती आई है और यह क्रम भविष्य में भी चलता रहने वाला है। इस दृष्टि से भौतिक साधनों और सामर्थ्यों का महत्त्व सदा ही स्वीकार किया जाता रहेगा। इतने पर भी यह यथार्थता अपने—स्थान पर ही बनी रहेगी कि मनुष्य की अंतःचेतना का स्पर्श करने—विशेषतः उसे उत्कृष्टता की दिशा में अग्रसर करने की आवश्यकता साधन-सामग्री के सहारे पूरी नहीं हो सकती। चेतना मात्र चेतना से ही प्रभावित होती है, उसे प्रशिक्षित और उल्लसित करने के लिए भावनात्मक आधार चाहिए। साधनों से तो मस्तिष्क को प्रभावित और शरीर को उत्तेजित भर किया जा सकता है।

इतिहास साक्षी है कि आंतरिक उत्कृष्टता के धनी व्यक्तित्वों ने अपनी अंतः ऊर्जा के सहारे अपने समय के अगणित मनुष्यों को प्रभावित किया है। ईसा, बुद्ध, शंकराचार्य, विवेकानंद, गाँधी जैसे महामानवों ने अपने अंतःकरणों को तोड़ा-मरोड़ा और ढाला-गलाया था। सामयिक विकृतियों के सुधारने में उन महान व्यक्तित्वों ने एक प्रकार से चमत्कार उपस्थित करके रख दिया था। एक अग्रगामी के पीछे अनुगामियों के जत्थे गतिशील होते रहे हैं। राणा प्रताप, गुरुगोविंद सिंह जैसी हस्तियाँ साधनहीन परिस्थितियों में भी साधन जुटाने में समर्थ होती रही हैं। यह व्यक्ति के अंतराल में उभरने वाली आत्मशक्ति का वर्चस्व है। नवयुग के अवतरण में तपश्चर्या की ऐसी परंपरा का विकसित किया जाना है, जिसके सहारे

आत्मबल के धनी महामानवों की संख्या बढ़ सके। जन मानस को उत्कृष्टता अपनाने के लिए सहमत कर सकना केवल ऐसे ही लोगों का काम है। स्वार्थों की पूर्ति के लिए उत्तेजित और प्रशिक्षित कर सकना तो भौतिक-प्रतिभाओं के लिए भी सरल है किंतु आदर्शवादिता को व्यवहार में उतारना और उसके लिए त्याग बलिदान के लिए प्रबल-प्रेरणा दे सकना तपःपूत आत्माओं के लिए ही संभव हो सकता है। युग-विकृतियों से जूझने के लिए इन्हीं ऊर्जा-आयुधों की आवश्यकता पड़ेगी। अणु बमों के विस्फोट जैसी प्रचंडता यदि सृजन-प्रयोजनों के लिए अभीष्ट हो तो उसके लिए व्यक्तित्व को तपश्चर्या की शक्ति से संपन्न करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। सृजन के लिए भागीरथों को और ध्वंस के लिए दधीचियों की आवश्यकता पूरी करने का कोई भौतिक विकल्प है नहीं। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए गायत्री उपासना के सामान्य उपचारों से लेकर, उच्चस्तरीय तप-साधनों तक का विशालकाय आधार खड़ा किया जा रहा है।

तथ्यों के जानने वाले जानते हैं कि प्रस्तुत शताब्दी में रचे गये स्वतंत्रता संग्राम के लिए सूक्ष्म वातावरण से आवश्यक रुचि उत्पन्न करने के लिए योगी अरविंद जैसे तपस्वियों की कितनी बड़ी आर्य जात पृष्ठभूमि रही है। असहयोग, सत्याग्रह से लेकर करो और मरो तक के संघर्षों के लिए अगणित लोगों की प्राण हथेली पर रखकर, बलिदानियों की सेनाएँ ला खड़ी करना एक चमत्कार ही कहा जा सकता है। हजार वर्ष से दबा-कुचला जनमानस एकाकी इतने आवेश के साथ आत्म गौरव की रक्षा के लिए आतुर हो उठे और संकल्प को पूरा करने के लिए बहुत कुछ कर-गुजरे तो उसे अद्‌भुत ही कहा जाएगा। एक ही समय में अनेकों महामानवों का उदय एक साथ हुआ हो, ऐसे उदाहरण अन्यत्र ढूँढ़े नहीं मिलते। नेता और योद्धा तो एक साथ कितने ही हो सकते हैं, पर भारत माता ने उन्हीं दिनों ढेरों महामानव उत्पन्न करके रख दिये। इस उत्पादन के पीछे किन्हीं जादूगरों की करामात काम

करती देखी जा सकती है। निश्चय ही वह उत्पादन ज्ञात और अविज्ञात तप-साधनाओं का ही प्रतिफल था। ऊर्जा उत्पादन के वे स्रोत इन दिनों शिथिल हो गये तो राष्ट्र निर्माण के कार्य में वैसी ही तत्परता का परिचय देने वाली विभूतियों को ढूँढ़ निकालना भी कठिन हो रहा है। तप शक्ति का लोक चेतना को ऊँचा उछालने में कितना बड़ा योगदान हो सकता है ? उसे आज नहीं तो कल एक सुनिश्चित तथ्य की तरह समझ सकना हम सभी के लिए संभव हो जायेगा।

यह व्यक्ति की आत्म ऊर्जा को विकसित करने और उसके द्वारा वातावरण को परिष्कृत करने का एक पक्ष हुआ। युग-परिवर्तन के लिए इन प्रयत्नों में तत्परतापूर्वक संलग्न रहने की आवश्यकता रहेगी। युग-सृजेताओं को उस उपार्जन उत्पादन के लिए तत्परतापूर्वक प्रयत्नरत रहना होगा। दूसरा पक्ष है वातावरण को सामूहिक प्रयत्नों से प्रभावित करना और उसके तूफानी-प्रवाह में सामान्यजनों को भी असामान्य भूमिका संपादन करने के लिए उत्तेजित करना। यह पक्ष सामूहिक प्रयत्नों से ही संपन्न हो सकता है। एकाकी व्यक्तिगत प्रयत्नों से तो कार्य सीमित क्षेत्र में, सीमित मात्रा में और सीमित समय तक के लिए ही संपन्न हो सकता है। व्यापक परिमाण में बड़े प्रयत्न चिरस्थाई उद्देश्य के लिए करने हों, तो उसके लिए ऐसे सामूहिक प्रयासों की आवश्यकता होगी, जो आध्यात्मिकता की उमंगों से सूक्ष्म जगत को भर सकने में समर्थ हो सके।

प्राचीन काल में यह प्रयोजन सप्त ऋषियों की सुगठित मंडली द्वारा संपन्न होते रहे हैं। उनके शरीर तो अलग-अलग थे, पर रहते साथ-साथ थे। जो सोचते थे, जो योजना बनाते थे और जो करते थे उसमें सघन एकता रहती थी। वैसे ही जैसे कि सप्त धातुओं के सम्मिलन से काय-कलेवर का ढाँचा खड़ा होता और गतिशील रहता है। अभी वे आकाश में एक साथ एक मंडली के रूप में चमकते और कदम से कदम मिलाकर साथ-साथ चलते हैं। दिवंगत

होने पर भी उनकी एकता में कोई शिथिलता नहीं आई है। सामूहिक सत्प्रयत्नों का मूल्य और महत्त्व वे भली प्रकार समझते हैं। इसमें किसी प्रकार का व्यतिरेक कभी न आने देने के लिए वे कृत संकल्प हैं।

देवताओं का सहकार उनकी पूजा के लिए स्थापित की गई उपचार-वेदियों को देखकर जाना जा सकता है। सर्वतोभद्र आदि स्थापनाओं में सह-निवास की उनकी मूल प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। एक ही जल कलश में उन सबका आह्वान और प्रतिष्ठापन संपन्न हो जाता है। भगवती दुर्गा तो देवताओं की संघ शक्ति का प्रतीक परिचय ही मानी जाती है।

देव-प्रयोजनों में सामूहिकता का ही प्राविधान है। यज्ञ-प्रक्रिया सनातन है। देवाराधन के समस्त तत्त्वों का उसमें समावेश है। प्रत्यक्ष है कि यज्ञ का समूचा क्रिया-कलाप सामूहिकता पर अवलंबित है। ब्रह्मा, आचार्य, अध्वर्यु, उद्गाता, यजमान, ऋत्वक आदि पदाधिकारियों की मंडली उसका सूत्र-संचालन करती है। आहुति देने वाले, परिक्रमा करने वाले, श्रमदानी, संयोजक, सहयोगी, व्यवस्थापक आदि जितना बड़ा समुदाय होगा, आयोजन की उतनी ही बड़ी सफलता मानी जाती है। राजनैतिक उद्देश्यों के लिए राजसूय यज्ञों और धार्मिक उद्देश्यों के लिए वाजपेय यज्ञों की परंपरा रही है। अश्वमेध, राजसूय और गायत्री यज्ञ जैसे आयोजन वाजपेय कहलाते रहे हैं। इनमें राजनेताओं एवं धर्मचेताओं को संख्या में एकत्रित करके, उनकी विचारणाओं एवं गतिविधियों में सामयिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों में एकता-एकरूपता लाने का प्रयोजन पूरा किया जाता रहा है। नैमिषारण्य आदि आरण्यकों में सूत-शौनिक कथा-प्रसंगों जैसे विशालकाय ज्ञान सत्र संपन्न होते थे और उनमें हजारों ऋषि आत्माएँ श्रद्धापूर्वक भाग लेती थीं।

कुंभ जैसे महा पर्वों के समय होने वाले विशालकाय धर्म सम्मेलनों का उद्देश्य भी एक ही था। श्रेष्ठ व्यक्तित्वों का

सत्प्रयोजनों के लिए सघन सहकार और सामूहिक प्रयत्न। कथा-कीर्तन, पर्व संस्कार, सत्र सत्संग, परिक्रमा, तीर्थयात्रा जैसे धर्मानुष्ठानों में अन्य उद्देश्यों के साथ-साथ एक अति महत्त्वपूर्ण प्रयोजन यह भी सम्मिलित है कि सदाशयता को संघबद्ध होने और एक दिशा धारा में चल पड़ने की व्यवस्था बन सके।

ऋषियों ने रावणकालीन अनाचार से जूझने के लिए सूक्ष्म शक्ति उत्पन्न करने के लिए सामूहिक आध्यात्म उपचार किया था सबने मिल-जुलकर अपना-अपना रक्त संचय किया और उसे एक घड़े में बंद करके, भूमि में गाड़ दिया। उसी से सीता उत्पन्न हुई और उनकी भूमिका के फलस्वरूप तत्कालीन अनाचारों का निराकरण संभव हो सका।

महत्त्व तो व्यक्तिगत उपासना का भी है और वैयक्तिक परिष्कार के लिए अलग-अलग एकांत उपासना का भी—आवश्यकता रहती ही है। किंतु समष्टिगत व्यापक प्रयोजनों के लिए सम्मिलित उपासना के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति भौतिक साधनों से हो सकती हैं, किंतु सूक्ष्म जगत को प्रभावित करने के लिए अध्यात्म पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है। वह एकाकी तो चलना ही चाहिए, पर उसे सामूहिक स्तर का भी बनाया जाना चाहिए।

आये दिन देखा जाता है कि एकाकी और सम्मिलित शक्ति में कितना अंतर पड़ता है ? बुहारी की अलग-अलग सींकें चाहे हजारों लाखों ही क्यों न हों अलग रहकर किसी भवन को बुहार न सकेंगी। अलग-अलग रहकर हजारों-लाखों धागे परिधान न बन सकेंगे। सींकें सम्मिलित हों तो समर्थ झाड़ू बनेगी। धागे परस्पर गुथें तो कपड़ा बनेगा और तन ढकेगा। अलग दीपक तो सदा ही जलते हैं, जब वे योजनाबद्ध रूप में नियत समय पर पंक्तिबद्ध प्रकाशित होते हैं, तो दीपावली का उत्सव दृष्टिगोचर होता है। अलग-अलग रहकर शूरवीर योद्धा भी कोई बड़ा प्रयोजन पूरा नहीं कर पाते। उनका सम्मिलित स्वरूप, सेना का प्रदर्शन भी प्रभावशाली होता है

और पराक्रम भी सफल होता है। सामूहिक और सुगठित उपासना के विशालकाय आयोजन वातावरण को बदलने और सुधारने का सुविस्तृत उद्देश्य पूरा करते हैं। युग परिवर्तन जैसे महान कार्य में सूक्ष्म जगत का परिशोधन—वातावरण अनुकूलन भी एक बड़ा तथ्य है इसके लिए युग शक्ति का उदय आवश्यक है। यह सामूहिक उपासना के सुनियोजित, सुसंस्कारित साधना-अनुष्ठानों से ही संभव हो सकता है।

तत्त्वदर्शी ऋषियों ने उपासना विज्ञान के निर्धारण में इस तथ्य का भी ध्यान रखा है कि नियत समय, नियत क्रम से, नियत विधि व्यवस्था और निर्धारित मनोभूमि की व्यवस्था में उपासना की जाती है और उससे सूक्ष्म जगत का उद्देश्य पूरा होता रहेगा। सूर्योदय और सूर्यास्त काल को ही संध्या-वंदन के लिए क्यों निर्धारित किया गया ? उसका एक ही उत्तर है कि इससे संयुक्त शक्ति की अत्यंत प्रभावशाली प्रचंड धारा उत्पन्न होती है।

किसी भारी वजन को उठाने के लिए मजदूरों की बड़ी संख्या भी अलग-अलग स्तर की खींचतान करती रहें, तो बोझ उठाना, पहिया घुमाना कठिन पड़ता है, पर जब एक साथ आवाज के साथ—एक प्रोत्साहन देकर, एक जोश उत्पन्न करके "जोर लगाओ हे ईशा" जैसे नारे लगाते हुए सब का बल एक ही समय एक ही कार्य पर नियोजित कर दिया जाता है, तो शक्ति का यह केंद्रीकरण चमत्कारी परिणाम दिखाता है और रुकी गाड़ी सहज ही आगे बढ़ जाती है।

सामूहिक नियोजन के परिणाम पग-पग पर परिलक्षित होते हैं। सैनिकों के कदम मिलाकर चलने से उत्पन्न ताल यों लगती तो साधारण-सी है, पर उसका वास्तविक प्रभाव तब दिखाई पड़ता है जब वे सैनिक किसी पुल पर कदम मिलाकर चलें। उस पदचाप की आवाज में संयुक्त ताल होने के कारण ध्वनि-तरंगों की प्रचंडता असाधारण बन पड़ती है। उससे पुलों के फट जाने का खतरा उत्पन्न हो जाता है।

संयुक्त उपासना की प्रचंड प्रतिक्रिया का तथ्य तत्त्वदर्शियों के ध्यान में सदा ही रहा है। विभिन्न धर्मों में प्रचलित उपासनाओं को सामूहिकता की शृंखला में बाँधा गया है। मुसलमानों की नमाज के समय यही नियम है और उन्हें कड़ाई के साथ पालन करने पर जोर दिया गया है। अन्यान्य धर्मों में भी यह व्यवस्था अपने-अपने ढंग से मौजूद है।

युग-परिवर्तन के लिए गायत्री उपासना को सामूहिक रूप से नियत समय और नियत क्रम से करने की जो विधि-व्यवस्था एक नियत नियंत्रण और समर्थ मार्ग दर्शन में चल रही है, उसे युगशक्ति का प्रचंड उत्पादन समझा जा सकता है और उसके आधार पर सूक्ष्म जगत के अदृश्य वातावरण के अनुकूलन की अपेक्षा की जा सकती है।

❐ ❐

युग-परिवर्तन के उपयुक्त वातावरण बनाना होगा

❋

एकाकी प्रयत्न और पुरुषार्थ का भी महत्त्व है और उसे सम्मानित, प्रोत्साहित किया ही जाना चाहिए। कई बार तो एकाकी प्रयत्न भी इतने प्रचंड होते हैं कि वे भी न केवल व्यष्टि सत्ता को वरन् समष्टि सत्ता तक को प्रभावित करने और उलटने तक में बहुत हद तक सफल हो जाते हैं। यों ऐसे यदा-कदा ही अपवाद रूप में होता है, पर इसमें यह तो पता चलता ही है कि ईश्वर का अंश राजकुमार अपने पिता की समस्त विभूतियाँ साथ लेकर आता है और यदि वह चाहे तो अपनी प्रसुप्ति को जागृति में बदलकर, प्रखरता को अपनाकर, समष्टि क्षेत्र में भी इतना कुछ कर सकता है, जिसे चमत्कारी कहा जा सके। तेजस्वी-मनस्वी स्तर के व्यक्ति ऐसा ही कुछ कर गुजरते हैं। ऐसी प्रतिभाएँ महामानवों के रूप में प्रतिष्ठा पाती हैं और अपने असाधारण कर्तृत्व से सामयिक समस्याओं का समाधान करती हैं। अवतारी आत्माएँ इसी स्तर की होती हैं। युग नेतृत्व कर सकने की विलक्षणता ही उन्हें भगवान स्तर का श्रेय सम्मान प्रदान करती है। यह व्यक्ति के चरम उत्कर्ष का उल्लेख होगा।

इतने पर भी वातावरण की महत्ता अपने स्थान पर यथावत ही बनी रहती है। उसके प्रभाव की प्रचंडता पग-पग पर परिलक्षित होती रहती है और आवश्यकता यह भी बनी रहती है कि किसी प्रकार समूचे वातावरण का अनुकूलन संभव बनाया जाय। इसके लिए सुनिश्चित उपचार सामूहिक साधना ही जाना और माना जाता रहा है। इन दिनों इन प्रयत्नों को युग शक्ति के उदय-उद्भव का उद्देश्य पूरा करने के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है।

वातावरण का प्रभाव मनुष्यों की आकृति एवं प्रकृति में पाये जाने वाले अंतर को देखकर जाना जाता है। काले, पीले, सफेद

और लाल रंगों की चमड़ी में वातावरण का प्रभाव ही मुख्य है। यह विशेषताएँ रक्तगत मानी जाती हैं, किंतु यह भी स्पष्ट है कि चमड़ी को प्रभावित करने वाली रक्तगत विशेषता अंततः विभिन्न देशों और क्षेत्रों में पाई जाने वाली जलवायु की भिन्नता से ही संबंधित है। मनुष्यों के छोटे-बड़े आकार देश और क्षेत्रों के हिसाब से होते हैं। पंजाबी और बंगाली के बीच शरीरों की सुदृढ़ता में जो कमी-वेशी रहती है, उसमें वातावरण के प्रभाव को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। रूस के उजबेकिस्तान प्रांत में अधिकांश व्यक्ति शतायुष होते हैं। उनके आहार विहार में, सुविधा-साधनों में कोई खास विशेषता नहीं होती। अन्यत्र रहने वालों की तरह वे भी मोटा-झोटा खाते और औसत जिंदगी जीते हैं। फिर सारे क्षेत्र में दीर्घायु की परंपरा किस कारण चली आ रही है ? इसका उत्तर वातावरण की विशेषता को समझने से ही मिल सकता है।

न केवल शरीरों में वरन् स्वभावों में भी विशेष अंतर देखा जाता है। यह सूक्ष्म या स्थूल वातावरण का ही प्रभाव है। संस्कृति, सभ्यता आदि की भिन्नताएँ इसी आधार पर विभाजित होती हैं कि किस क्षेत्र के लोगों की मान्यता अभिरुचि एवं आदत किस ढाँचे में ढल गई है और उन लोगों की विचारणा एवं गतिविधि किस दिशा में प्रवाहित हो रही है ? यह प्रवाह सहज ही बदलते भी नहीं, इसलिए उन्हें संस्कृति की भिन्नता के रूप में मान्यता दे दी जाती है और उसका परिपोषण भी होता है। यह विशेषताएँ न केवल स्वभावों में वरन् चरित्रों और आदर्शों में भी छलकती दीख पड़ती हैं।

पशुओं, वनस्पतियों और खनिज-पदार्थों तक में वातावरण की भिन्नता के आधार पर उनके स्तर का परिचय मिलता है। एक देश के पशुओं का दूसरे देश वालों की तुलना में न केवल आकृति में अंतर पड़ जाता है वरन् उनकी श्रमशक्ति, दूध देने आदि की क्षमताओं में भी अंतर होता है। भेड़ों की ऊन में पाई जाने वाली भिन्नताएँ उन क्षेत्रों के वातावरण से संबंधित होती हैं। पहाड़ी कुत्ते और देशी कुत्तों में काफी प्रकृति भिन्नता पाई जाती है। ऋतु प्रभाव

सहन करने की क्षमता भी उस क्षेत्र पर छाई रहने वाली सूक्ष्म विशेषताओं से ही संबंधित होती है। सर्दी वाले इलाकों में जन्मे प्राणी सर्दी की और गर्म देशों के निवासी गर्मी की अधिकता को भी शांति पूर्वक सहन कर लेते हैं, जबकि भिन्न परिस्थितियों में जन्म लेने वालों के लिए परिवर्तन के साथ तालमेल बिठाना कठिन पड़ता है। तेज वाहनों पर सफर करने वाले अक्सर स्वास्थ्य में गड़बड़ी पड़ने की शिकायत करते रहते हैं। इसका कारण वातावरण में परिवर्तन की तीव्रता का शरीर की सहन शक्ति के साथ ठीक तरह तालमेल न बैठ सकना ही होता है।

जड़ी-बूटियाँ, घास वनस्पतियाँ, फल-फूल आदि के आकार, गंध, स्वाद आदि में अंतर पाया जाता है। विभिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न हुई औषधियों का नाम, रूप एक होने पर भी उनके रसायनों और गुणों में असाधारण अंतर दीख पड़ता है। पक्षियों से लेकर कीड़े-मकोड़ों तक की आकृति-प्रकृति में अंतर देखा गया है। साँप, बिच्छू, छिपकली, मकड़ी आदि के विषयों में पाया जाने वाला अंतर यों दीखता तो जातिगत है; पर वे जातिगत विशेषताएँ भी मूलतया वातावरण की ही प्रतिक्रिया होती हैं।

अनेक देशों की, क्षेत्रों की परिस्थितियाँ, प्रथाएँ और मान्यताएँ, रुचियाँ और संस्कृतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। उनमें जो बालक उत्पन्न होते हैं, वे वातावरण के प्रभाव से उसी प्रकार की मनोवृत्ति और प्रकृति अपनाते चले जाते हैं। उनके चिंतन, स्वभाव और क्रिया-कलाप लगभग वैसे ही होते हैं, जैसे कि उस प्रदेश में रहने वाले लोगों के। बहुमत का दबाव पड़ता है, तो अल्पमत अनायास ही बहुतों का अनुकरण करने लगता है। समय का प्रभाव, युग का प्रवाह, इसी को कहते हैं। सर्दी-गर्मी का मौसम बदलने पर प्राणियों के, वनस्पतियों के तथा पदार्थों के रंग-ढंग ही बदल जाते हैं। गतिविधियों में ऋतु के अनुकूल बहुत कुछ परिवर्तन होते हैं।

विज्ञानवेत्ता जानते हैं कि पृथ्वी पर जो कुछ विद्यमान है और उत्पन्न उपलब्ध होता है, वह सब अनायास ही नहीं है और न उस

सबको मानवी उपार्जन कह सकते हैं; यहाँ ऐसा बहुत कुछ होता रहता है, जिसमें मनुष्य का नहीं वरन् सूक्ष्म शक्तियों का हाथ होता है। सूर्य पर दीखने वाले धब्बे उसकी स्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। उस परिवर्तन का पृथ्वी पर भारी असर पड़ता है। उनसे पदार्थों की स्थिति और प्राणियों की परिस्थिति में आश्चर्यजनक हेर-फेर होते हैं, विकिरण, चुंबकीय तूफान, अंधड़, चक्रवात किस प्रकार सामान्य परिस्थितियों को असामान्य बनाते हैं, यह सभी जानते हैं। अंतरिक्षीय अदृश्य शक्ति वर्षा से कई बार धरती पर हिम-युग आए हैं। जलप्लावन, समुद्री परिवर्तन और खंड प्रलय के दृश्य उपस्थित हुए हैं। भविष्य में पृथ्वी के पदार्थों अथवा प्राणियों की स्थिति में कोई असाधारण परिवर्तन हुआ, तो उसका निमित्त कारण सामान्य घटना क्रमों में नहीं वरन् अंतरिक्षीय अदृश्य हलचलों में ही पाया जाएगा। अतिवृष्टि अनावृष्टि, शीत आधिक्य महामारी आदि आधिदैविक विपत्तियों में मनुष्य अपने आपको निर्दोष एवं असहाय ही अनुभव करता है।

व्यक्ति अपने निजी जीवन में सर्वथा स्वतंत्र और सशक्त है। इतना होते हुए भी विशाल ब्रह्मांड में गतिशील हलचलों और परिस्थितियों में उसका स्थान नगण्य है। सिर पर खड़े पानी से लदे बादल तक को वह बरसा नहीं सकता, मौत, बुढ़ापे को रोकने तक में असमर्थ हैं। परिस्थितियों पर उसका अधिकार नगण्य है। प्रवाहों से वह अपना यत्किंचित बचाव ही कर पाता है। सर्दी उसके बूते रुकती नहीं, कपड़े लादकर, आग तापकर आत्म रक्षा भर में आंशिक सफलता पा लेता है।

स्पष्ट है कि वातावरण से मनुष्य प्रभावित होता है। अलग-अलग देशों के निवासी अपनी-अपनी परंपराओं से प्रभावित होते प्रचलित ढर्रे के अंतर्गत सोचते और जीवन-यापन करते हैं। उसमें उनकी भौतिक प्रतिभा का नहीं वातावरण का प्रभाव ही प्रधान रूप से काम करता है।

चेतना के संघात से वातावरण में वांछित परिवर्तन किए जाने संभव हैं। अदृश्य जगत में कई बार ऐसी प्रेरणाएँ उभरती हैं, जिनके आँधी तूफानों में मनुष्यों के मस्तिष्क पत्तों और तिनकों की तरह उड़ने लगते हैं। युद्धोन्माद आदि उभरते हैं। उन दिनों अधिकांश लोग लड़ने की आवश्यकता अनुभव करते और उसके लिए उतारू से दिखते हैं। एक अजीब-सा आवेश छाया रहता है। कहने की आवश्यकता पड़ती है और न समझाने की, हवा में तेजी और गर्मी ही कुछ ऐसी होती है, जिसके कारण सामान्य मस्तिष्क एक प्रकार से सम्मोहक स्थिति में रहता और प्रवाह में बहता दिखाई पड़ता है। बड़े युद्धोन्माद एवं स्थानीय दंगे-फसादों में वातावरण किस प्रकार उत्तेजित आतंकित होता है, उसे जन मनोवृत्ति-शास्त्र के अध्येता भली प्रकार जानते हैं। युद्धोन्माद की तरह ही समय-समय पर दूसरे सूक्ष्म प्रवाह भी अपने-अपने समय पर उतरते रहे हैं और असंख्य मस्तिष्कों को अपने साथ बहा ले जाने में आँधी-तूफान का काम करते रहे हैं।

प्रजातंत्र की लहर एक समय चली और उसने राजतंत्र को संसार से उखाड़ फेंकने और उसके स्थान पर जनवादी सरकार बनाने का चमत्कार ही उत्पन्न कर दिया। एक लहर साम्यवाद की उठी, उसने रूस के नेतृत्व में एशिया और यूरोप के अनेक देशों को देखते-देखते अपना अनुचर बना लिया। इन दिनों संसार भर के मनुष्यों में से प्रायः आधे लोग साम्यवादी विचारधारा के पक्ष में सोचते और उनको पूरा या अधूरा समर्थन देते हैं। इन प्रजातंत्र और साम्यवाद के विचार-प्रवाहों को अपने युग की प्रचंड लहरों में गिन सकते हैं। अनुपयोगी लहरों में से अधिनायकवाद, जातिवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, सामंतवाद आदि भी समय-समय पर अपना सिर उठाते और विग्रह उत्पन्न करते रहे हैं। लहर-लहर ही है। ज्वार-भाटा की भयंकरता समुद्र तटवासी समय-समय पर देखते रहते हैं। कई तरह के विचार भी कई बार ऐसे आते हैं, जो अपने

साथ असंख्यों को समेटते, घसीटकर कहीं से कहीं उठाकर उड़ाकर ले जाते हैं।

भगवान बुद्ध का धर्म-चक्र-प्रवर्तन साधन प्रधान नहीं, प्रवाह प्रधान था। साधनों ने प्रवाह उत्पन्न किया था। प्रवाह ने साधन खड़े कर दिये थे। हर्षवर्धन, अशोक आदि राजाओं ने मिलकर बुद्ध को धर्म प्रचारक नियुक्त नहीं किया था। बुद्ध ने ही हवा गरम की थी और उसकी गर्मी से लाखों सुविज्ञ, सुयोग्य और सुसंपन्न व्यक्ति अपनी आत्माहुति देते हुए चीवरधारी धर्म सैनिकों की पंक्ति में अनायास ही आ खड़े हुए थे। धर्म-प्रवर्तकों में से प्रत्येक ने अपने-अपने समय में अपने-अपने ढंग से वातावरण को गरम करके अपने समर्थन की भाव-तरंगें उत्पन्न की हैं और उस प्रवाह में असंख्य व्यक्ति बहते, चलते चले गये हैं। पराधीनता पाश से मुक्त होने वाले देशों में भी आजादी की लहर बही और उसके कारण अनगढ़ ढंग से आंदोलन फूटे तथा अपने लक्ष्य पर पहुँचकर रहे। अदृश्य और सूक्ष्म वातावरण के तथ्य तथा रहस्य को जो लोग जानते हैं, वे समझते हैं कि इस प्रकार के प्रवाह कितने सामर्थ्यवान होते हैं। उनकी तूफानी शक्ति की तुलना संसार की और किसी शक्ति से नहीं हो सकती। रामायण काल के वानरों द्वारा जान हथेली पर रखकर जलती आग में कूद पड़ना, जिस प्रवाह की प्रेरणा से संभव हुआ, उसका स्वरूप और महत्त्व यदि समझा जा सके, तो प्रतीत होगा कि जन समुदाय को किसी दिशा विशेष में घसीट ले जाने की सामर्थ्य सूक्ष्म वातावरण में भी इतनी है, जिसे साधनों के सहारे खड़े किये गये आंदोलनों से कम नहीं अधिक शक्तिवान ही माना जा सकता है।

जन समर्थन और जन सहयोग के लिए प्रचार साधनों पर उतना निर्भर नहीं रहा जा सकता, जितना कि वातावरण के अनुकूलन पर। सूक्ष्म जगत का प्रवाह यदि सहयोगी बन रहा हो तो अभीष्ट प्रयोजन में सफलता प्राप्त करने की संभावना कहीं अधिक बढ़ जाती है। हवा का रुख पीठ पीछे से हो तो जलयानों, वायुयानों

से लेकर पैदल यात्रा में सुविधा होती है और मार्ग कितनी जल्दी, कितनी सरलता से पूरा हो जाता है। वातावरण में विषाक्तता छा जाती है, तो भयंकर महामारियों का प्रकोप होता है और देखते-देखते असंख्यों उससे आक्रांत होते मरते देखे जाते हैं। वातावरण में सर्दी-गर्मी होने से प्राणियों को काँपते देखा जाता है। घर में शोक का वातावरण हो तो असंबद्ध लोग भी उससे प्रभावित होते हैं। मंदिरों और कसाईघरों के वातावरण का अंतर प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। अध्यात्म विद्या में सूक्ष्म जगत का, सूक्ष्म वातावरण का महत्त्व इस संसार के समस्त साधनों से सर्वोपरि माना गया है। युग-परिवर्तन के लिए हमें वातावरण क अनुकूलन के लिए अध्यात्म विज्ञान के अनुरूप प्रचंड प्रयास करने पड़ेंगे। इतना बड़ा कार्य उसी दिव्य शक्ति के माध्यम से संपन्न हो सकेगा।

सूक्ष्म वातावरण का परिशोधन करने के लिए अध्यात्म विज्ञानियों द्वारा कतिपय दिव्य उपचार समय-समय पर किये गये हैं, इसके प्रमाण शास्त्रों में मिलते हैं। रावण काल के विक्षुब्ध वातावरण को समाहित करने का कार्य लंका विजय के उपरांत भी शेष रह गया था। भगवान राम ने दशाश्वमेध घाट पर दश अश्वमेधों की संकल्प शृंखला पूरी की थी। कंस, दुर्योधन, जरासंध जैसे असुरों के न रहने पर भी महाभारत काल के विक्षोभ वातावरण में भरे रहे। भगवान कृष्ण ने उनका समाधान आवश्यक समझा और पांडवों से राजसूय यज्ञ कराया। महर्षि विश्वामित्र अपने समय की असुरता को दुर्बल बनाने के लिए जो बृहद यज्ञ रच रहे थे, उसका पता असुरों को चल गया और वे ताड़का, सुबाहु, मारीच के नेतृत्व में उसे नष्ट करने के लिए आक्रमण करने लगे। राम और लक्ष्मण को यज्ञ रक्षा के लिए जाना पड़ा था। ऐसे समाधान उपचारों में यज्ञ-प्रक्रिया का बहुत महत्त्व रहा है। यज्ञों में अग्निहोत्र की तरह ही जप यज्ञ भी है। अग्निहोत्र में साधन चाहिए पर जप यज्ञ व्यक्तिगत साधनों से भी संपन्न हो सकता है। यज्ञ तो सामूहिक होते ही हैं। उसमें होताओं की सम्मिलित साधना का चमत्कार देखने को

मिलता है। जप यज्ञ को जब अनेक जपकर्त्ता संकल्पपूर्वक समाहित होकर करते हैं, तो उससे भी सम्मिलित शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी सामूहिक साधनाएँ पुरश्चरण कहलाती हैं। तपश्चर्या युक्त सामूहिक संकल्पों के द्वारा विशिष्ट उद्देश्य के लिए किए गए पुरश्चरण भी वातावरण में अभीष्ट अनुकूलता उत्पन्न करते हैं।

युग-परिवर्तन संसार का सबसे बड़ा, सबसे भारी और सबसे व्यापक और सबसे अधिक महत्त्व का काम है। उसके लिए सामान्य और सीमित नहीं, असामान्य और असीम शक्ति चाहिए। भौतिक साधनों की भी इसके लिए आवश्यकता पड़ेगी पर शक्ति का मूल स्रोत आध्यात्मिक ही होगा। जन-मानस का बदलना विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक क्षेत्र का कार्य है। इसलिए ऊर्जा भी उसी स्तर की चाहिए। वातावरण की उत्कृष्टता, निकृष्टता सामूहिक चिंतन पर निर्भर रहती है। उसका उत्पादन सामूहिक साधना के प्रचंड सामर्थ्य संपन्न सामूहिक धर्मानुष्ठानों से ही संभव है। हम सब इन दिनों इसी के लिए प्रयत्नशील हैं। आशा की जा सकती है कि इन पुण्य प्रयत्नों की प्रतिक्रिया युग परिवर्तन के महान प्रयोजन में अपनी असाधारण भूमिका प्रस्तुत करेगी।

❐ ❐

युग-परिवर्तन में गायत्री महाशक्ति का अवतरण

❋

युग-परिवर्तन अपने समय का सुनिश्चित तथ्य है। इस विश्व उद्यान का सृजेता अपनी इस अनुपम कलाकृति को इस तरह नष्ट-भ्रष्ट होने नहीं देना चाहता, जिस तरह वह इन दिनों विनाश के गर्त में गिरने के लिए द्रुतगति से बढ़ती जा रही है। मनुष्य उसके वर्चस और वैभव का प्रतीक है। सारा कौशल एकत्रित करके बड़े अरमानों के साथ बनाने वाले ने उसे बनाया है। सामूहिक आत्म हत्या के लिए इन दिनों उसकी उतावली चल रही है। बुद्धि-वैभव का भस्मासुर, संस्कृति की पार्वती को हथियाने और शिव को मिटाने पर उतारू हो रहा हो तो "यदा यदा हि धर्मस्य ..." का आश्वासन निष्क्रियता नहीं अपनाये रह सकता। संतुलन के लिए प्रतिज्ञाबद्ध नियति को अपने नियमन का गतिचक्र चलाना ही था। सो, वह सब इन्हीं दिनों हो रहा है। चर्म-चक्षु ब्रह्म मुहूर्त के आगमन का आभास भले ही न लगा सकें, किंतु जिन्हें पूर्वाभास की संवदेन शक्ति उपलब्ध है वे देखते हैं, निशा बीत गई और ऊषा की मुसकान में अब बहुत विलंब नहीं है।

नव युग के अवतरण का तथ्य विवादास्पद प्रसंग नहीं रहा। उसे सुनिश्चित संभावना के रूप में लगभग प्रत्यक्ष ही अनुभव किया जा सकता है। ध्वंस की शक्तियों का सम्मान करने के लिए जब सृजन साहसपूर्वक डट जाये तो सभी जानते हैं कि जीतेगा कौन ? सत्य ही जीतता है असत्य नहीं। इस श्रुति वचन में स्रष्टि की शाश्वत परंपरा का समावेश है। अंधकार का साम्राज्य तभी तक सघन बन रहा है, जब तक प्रकाश प्रकट नहीं होता है जब विश्व चेतना की पुकार तमस् के प्रति अस्वीकृति और ज्योति की ओर गमन करने की आतुरता व्यक्त कर रही हो तो फिर नव प्रभात का अवतरण सुनिश्चित तथ्य ही माना जाना चाहिए।

युग-परिवर्तन में यों सदा ही विकृतियों का निराकरण और सत्प्रवृत्तियों का संस्थापन होता है, पर रोग और उपचार की भिन्नता प्रायः हर बार होती है। वही उसकी भिन्नता और विशेषता समझी जाती है। अतीत के पूर्व प्रसंगों में दुष्टता की उद्दंडता ही विश्व विनाश के लिए उभरती रही है, फलतः उसे निरस्त करने के लिए शस्त्रधारी भगवान अवतार लेते रहे हैं। बाराह के दाँत, नृसिंह के नख, परशुराम का फरसा, राम का धनुष, कृष्ण का चक्र इस प्रसंग में सहज ही स्मरण हो जाते हैं। इस बार दुष्टता नहीं भ्रष्टता का उभार है। उसके लिए बुद्धि की परंपरा ही कारगर हो सकती है। नीति से अनय का निराकरण ज्ञान गंगा के स्वर्ग से धरती पर अवतरण की ही पुनरावृत्ति होती है। अबकी बार का अवतार ऋतंभरा प्रज्ञा के रूप में होगा। युग चंडी का साक्षात्कार इन दिनों हम सब इसी रूप में करेंगे। इस बार क्रियागत दुष्टता की जड़ कहीं अधिक गहरी है विचारणाओं से भी आगे बढ़कर आस्थाओं के क्षेत्र तक को जकड़ चुकी है। उनकी जटिलता भ्रष्टता के रूप में प्रकटी है। इसका निराकरण अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। इसलिए उपचार भी उतना ही प्रखर-उतना ही उच्चस्तरीय होना है। इस बार का अवतरण युगशक्ति गायत्री के रूप में है, दुष्टता से निपटने के लिए शस्त्र पर्याप्त हैं, किंतु भ्रष्टता अदृश्य है। वह आकांक्षाओं और आस्थाओं की गहराई में जा घुसती है, उतनी ही गहरी डुबकी लगा कर छिपे चोर को ढूँढ़ निकालना और उलटकर निरस्त करना अपेक्षाकृत अधिक जटिल है। इतना व्यापक, इतना जटिल अन्य इतना कठिन काम भगवती आद्य शक्ति ही कर सकती हैं। अज्ञानजन्य अनाचार प्रज्ञा के प्रचंड आलोक का उदय हुए बिना और किसी तरह मिट नहीं सकता। इस बार के महान परिवर्तन को संपन्न करने के लिए ब्राह्मी शक्ति को स्वयं ही आना पड़ रहा है। पार्षदों से यह काम चलने वाला था नहीं।

हर महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए शक्ति चाहिए। कोई भी छोटा-बड़ा यंत्र शक्ति के बिना चलता नहीं। समष्टि तंत्र की तरह ही व्यक्ति तंत्र का गतिशील रहना भी शक्ति की मात्रा पर ही निर्भर है। परिवर्तन

कृत्यों में तो साधारण की अपेक्षा कहीं अधिक परिमाण में शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। ध्वंस और निर्माण दोनों के लिए असाधारण साधन जुटाने होते हैं। संसार के महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के घटनाक्रमों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि उनके लिए प्रचुर परिमाण में साधन शक्ति, श्रम शक्ति और चिंतन शक्ति का उपयोग हुआ है। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्रांतियों को सफल बनाने में समय-समय पर असाधारण सामर्थ्य का उपयोग होता रहा है। यदि वह साधन न जुटते, तो लक्ष्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती थी। इस बार के युग-परिवर्तन की रण-स्थली जिस धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र की विस्तृत भूमि में फैली हुई है, उसे लोक मानस कह सकते हैं। परिष्कार और परिवर्तन के सरंजाम इसी परिधि में खड़े किये जाने हैं। सेनापतियों के खेमे इसी भूमि में गढ़ रहे हैं। लक्ष्य जन मानस का परिष्कार है। प्रस्तुत समस्याएँ इतनी जटिल हैं कि उनका समाधान वाह्य उपचारों से किसी भी प्रकार संभव न हो सकेगा। चिंतन का प्रवाह उलटे बिना विनाश की विभीषिका को विकास की संभावना में परिवर्तित किया नहीं जा सकता। चिंतन की दिशा धारा को सुव्यवस्थित करने वाले दिव्य प्रभाव को युगांतर चेतना कहा जा सकता है। यही युग शक्ति गायत्री है। युग-परिवर्तन का उद्‌गम स्रोत इसी को समझा जाना चाहिए। उसके क्रिया-कलाप अनेकों अवांछनीयता के लिए ध्वंसात्मक और औचित्य के लिए सृजनात्मक क्रिया-कलापों में देखे जा सकेंगे। समग्र परिवर्तन बौद्धिक-नैतिक और सामाजिक क्रांति के तीन खंडों में बँटा हुआ है। इसे त्रिपदा की तीन धाराएँ कहा जा सकता है और उसके समन्वय को त्रिवेणी संगम का नाम दिया जा सकता है।

त्रिवेणी संगम पर स्नान करने का माहात्म्य "काक होंहि पिक बकहु मराला" बताया गया है। जन-मानस का परिष्कार इसी रूप में परिलक्षित होता है। आकृतियाँ तो यथावत रहती हैं किंतु प्रकृति बदल जाती है। अंतरंग बदलता है तो बहिरंग को उलटते देर नहीं लगती है। युग शक्ति गायत्री का अवतरण और क्रिया-कलाप इसी रूप में समझा जा सकता है। युग-परिवर्तन में इस बार उसी की भूमिका सर्वोपरि

होगी। ज्ञान यज्ञ और विचार क्रांति अभियान के रूप में उसी आद्यशक्ति की हलचलों को उभरते हुए देखा जा सकता है।

गायत्री मंत्र यों सामान्य दृष्टि से देखने पर पूजा उपासना में प्रयुक्त होने वाला—हिंदू धर्म में प्रचलित एक मंत्र मात्र प्रतीत होता है। मोटी दृष्टि से उसकी आकृति और परिधि छोटी मालूम पड़ती है, किंतु वास्तविकता इससे कहीं अधिक व्यापक है। गायत्री महाशक्ति है। उसका प्रत्यक्ष रूप २४ अक्षरों के छंद-गुंथन में देखा जा सकता है। भारतीय धर्म का उसे प्राण उद्गम एवं मेरुदंड कह सकते हैं। शिखा गायत्री है। यज्ञोपवीत गायत्री है। गुरु मंत्र गायत्री है। उसे वेदमाता—देवमाता कहा गया है। ब्रह्म विद्या का तत्त्व ज्ञान और ब्रह्मवर्चस का तप विधान इसी उद्गम केंद्र से गंगोत्री यमुनोत्री की तरह प्रकट प्रस्फुटित होते हैं। भारत का गौरवमय अतीत ऐसे देव-मानवों का इतिहास है, जो अपनी मातृभूमि को स्वर्गादपि गरीयसी बनाने के अतिरिक्त समस्त विश्व वसुंधरा को समृद्धियों और विभूतियों से सुसंपन्न बनाने की महती भूमिका निभाते रहे। ऐसे देव-मानवों के अंतःकरण जिस साँचे में ढलते थे, उसे निःसंकोच गायत्री तत्त्वज्ञान और तप विधान कहा जा सकता है।

गायत्री महा शक्ति का प्रथम अरुणोदय भारत भूमि पर हुआ। इसके लिए स्वभावतः उस क्षेत्र में सर्वप्रथम और सर्वाधिक परिमाण में अपना वर्चस्व प्रकट कर सकना अनायास ही संभव हो गया, पर इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि उसका सीमा क्षेत्र इतना ही स्वल्प है। जापानी अपने देश में सर्वप्रथम सूर्य का उदय होने की मान्यता बनाये हुए हैं और अपने को सूर्य पुत्र कहते हैं। उनकी मान्यता को बिना आघात पहुँचाये हुए भी यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि भगवान सूर्य जापान तक सीमित नहीं हैं, वे समस्त भूखंड को समान रूप से अपने अनुग्रह से लाभान्वित करते हैं। गायत्री को इस रूप में समझा जाना चाहिए। वेदमाता उसका आरंभिक रूप है। उसकी व्यापकता देवमाता और विश्व माता के रूप में देखी जा सकती है। अस्तु हिंदू धर्मानुयायियों में अधिक प्रचलित संस्कृत शब्दावली में

गुंथित और उपासना उपचार में प्रयुक्त होने पर भी उसे उतनी परिधि में सीमित नहीं किया जा सकता। उसका कार्य क्षेत्र और विकास विस्तार अत्यधिक है। इतना व्यापक जिसमें मनुष्य की हर समस्या का समाधान और हर सुखद संभावना को साधन मानने में किसी विचारशील को कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। नव युग के अवतरण की सुखद संभावनाओं में गायत्री महाशक्ति की भूमिका ही प्रधान रहेगी।

बीज छोटा-सा होता है। उसके अंतराल में विशाल वृक्ष की समस्त विशेषताएँ सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती हैं। परमाणु तनिक-सा होता है, पर उसकी अंतरंग क्षमता और गतिशीलता को देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। शुक्राणु में पाये जाने वाले गुण सूत्र प्रत्यक्षतः बहुत ही तुच्छ होते हैं, पर उनमें महान मानव का अस्तित्व जमा बैठा होता है। गायत्री मंत्र को भी ऐसी ही उपमा दी जा सकती है। उसका आकार छोटा रहने और उपयोग तनिक-सा देखने पर भी वस्तुतः संभावना इतनी व्यापक है कि उसे नई दुनिया गढ़ देने में समर्थ कहा जा सके।

ब्राह्मी चेतना की महाशक्ति गायत्री के दो रूप हैं एक ज्ञान दूसरा विज्ञान। ज्ञान पक्ष को उच्चस्तरीय तत्त्व ज्ञान की ब्रह्मविद्या की, ऋतंभरा प्रज्ञा की संज्ञा दी जा सकती है। इसका उपयोग आस्थाओं और आकांक्षाओं को उच्चस्तरीय बनाने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण के रूप में किया जा सकता है। ज्ञान, यज्ञ, विचार-क्रांति आदि के बौद्धिक उत्कृष्टता के साधन इसी आधार पर जुटते हैं। लेखनी, वाणी एवं दृश्य-श्रव्य जैसे साधनों का उपयोग इसी निमित्त होता है। स्वाध्याय, सत्संग, चिंतन-मनन की गतिविधियाँ इसी के निमित्त चलती हैं।

गायत्री का दूसरा पक्ष है—विज्ञान। उपासना एवं साधना की अनेकों प्रथा पद्धतियों के रूप में यही विधि-विधान बिखरा पड़ा है। मोटे रूप से यह सब ऐसा प्रतीत होता है कि किसी देवी-देवता की अभ्यर्थना करके कुछ मनोवांछित प्राप्त करने के लिए मनुहार करने जैसा है,

किंतु वास्तविकता ऐसी है नहीं। मानवी सत्ता के अंतराल में इतनी महान संभावनाएँ और क्षमताएँ प्रसुप्त स्थिति में भरी पड़ी हैं कि उन्हें प्रकारांतर से ब्रह्म चेतना की प्रतिकृति (टू कापी) कहा जा सके। अंतराल की प्रसुप्ति की दरिद्रता है और उसकी जाग्रति में संपन्नता का महासागर लहलहाता देखा जा सकता है। जो उसे जगाने, साधने और सदुपयोग करने में समर्थ हो सके, उन्हें महामानव की संज्ञा दी गई है। उन्होंने ऐतिहासिक भूमिकाएँ निवाही हैं। स्वयं धन्य बने हैं और अपने संपर्क क्षेत्र के जन समुदाय एवं वातावरण को धन्य बनाया है।

व्यक्ति का खोखला साढ़े पाँच फुट लंबे और डेढ़ मन भारी काय-कलेवर के रूप में दीखता है, पर उसकी मूल सत्ता चेतना के गह्वर में—अंतःकरण में छिपी बैठी है। वहाँ जैसा भी कुछ वातावरण होता है, उसी में चेतना को निर्वाह करना पड़ता है। फलतः उसका स्वरूप भी वैसा ही बन जाता है। टिड्डे हरी घास में रहने पर हरे रहते हैं और सूखी घास में रहने पर पीले बन जाते हैं। अंतराल का स्तर ही चेतना की उत्कृष्टता और निकृष्टता के लिए उत्तरदायी है। इस अंतराल के मर्मस्थल का स्पर्श भौतिक उपकरणों से संभव नहीं हो सकता है। उतनी गहराई तक सचेतन उपचार ही पहुँचते हैं। गायत्री महामंत्र की साधना, उपासना का प्रयोजन यही है। इसी के उपाय उपचार को गायत्री महाविज्ञान कहते हैं। प्रसुप्त का जागरण उसका उद्देश्य है। मनुष्य की महानतम इंद्रियाँ तीन हैं। उन्हें सुधारने, उभारने और उछालने के तीनों प्रयोजन पूरे करने वाली प्रक्रिया का नाम गायत्री उपासना है। इस विज्ञान पक्ष के सहारे भौतिक प्रगति के अनेकों आधार खड़े होते हैं। ज्ञानपक्ष के अंतर्गत जगत में चिंतन और दृष्टिकोण में ऐसा परिष्कार होता है, जिसे ऋषि कल्प कहा जा सके। व्यष्टि और समष्टि के दोनों ही पक्षों को समुन्नत बनाने के लिए गायत्री विद्या की उपयोगिता असाधारण है। सामयिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए उसी की भूमिका युग शक्ति के रूप में संपन्न होने जा रही है।

अधर्म के पक्षधर समर्थन और क्रिया-कलाप का नियमन करने और धर्मपक्ष के पुनरुत्थान का उद्देश्य लेकर समय-समय पर भगवान के अवतार होते रहे हैं। असंतुलन को संतुलन में बदलना

ही अवतार का उद्देश्य रहता है। इसके लिए सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप समाधान प्रस्तुत किये जाते हैं। अवतार की यही लीलाएँ हैं। हर अवतार का उद्देश्य तो एक ही रहता है—समष्टिगत विकृत मनःस्थिति और विपन्न परिस्थिति का समाधान। इसके लिए अनीति विरोधी और नीति समर्थक गतिविधियों का सुनियोजन ही अवतार का एक मात्र कार्यक्रम होता है। इस कार्यक्रम का स्वरूप क्या हो ? साधन और उपाय क्या अपनाये जाएँ ? इसका निर्धारण सामयिक समस्याओं के स्वरूप को देखकर ही निर्धारित होता है। यही कारण है कि ईश्वर अवतरण के लक्ष्य एक रहते हुए भी विभिन्न अवतारों के क्रिया-कलापों में अंतर पाया जाता है।

भगवती, सरस्वती का अवतार बौद्धिकता की परिपुष्टि के लिए, शिक्षा के लिए आवश्यक साधन एवं उत्साह साथ लेकर हुआ था। भगवती दुर्गा—सामूहिकता का, सहकारिता का, अनीति विरोधी संघर्षशीलता का प्रतिनिधित्व करती हुई धरती पर उतरी थी। सरस्वती को बौद्धिकता एवं दुर्गा को सामाजिकता की क्रांति चेतना कहा जा सकता है। तीसरी शक्ति है गायत्री। गायत्री अर्थात् अंतःक्षेत्र की आध्यात्मिकता और वाह्य क्षेत्र की नैतिकता। गायत्री अवतरण के साथ-साथ ही नीतिधर्म एवं अध्यात्म का अवतरण हुआ। वेद के माध्यम से तत्त्व ज्ञान, अनुशासन और नीति निर्धारण की व्यवस्था चली। लक्ष्मी चेतना पक्ष में नहीं आती। वह भौतिकता एवं कला की प्रतीक है। अस्तु अवतरण प्रसंग में उनका, उनकी लीलाओं का उल्लेख नहीं होता।

अपने युग की समस्त विकृतियाँ अपेक्षाकृत अधिक गहरी हैं। उन्होंने मानवी अंतराल में अनास्था के रूप में जड़ें जमाई हैं और चिंतन एवं कर्तृत्व को भ्रष्ट करके रख दिया है। जन मानस का परिष्कार ही वर्तमान आस्था संकट के निराकरण का, समस्त समस्याओं के समाधान का एक मात्र उपाय है। उज्ज्वल भविष्य की आशाओं का यह केंद्र बिंदु है। सुधार और उत्थान के अन्यान्य उपचार तो इसी केंद्र बिंदु के इर्द-गिर्द परिभ्रमण करते हैं। प्रस्तुत युग क्रांति

को अनास्थाओं के उन्मूलन और आस्थाओं के आरोपण का लक्ष्य पूरा करने में संलग्न देखा जा सकता है। अपने युग में ब्राह्मी-चेतना के अवतरण का यही स्वरूप प्रत्यक्ष प्रकट होते हुए देखा जा सकता है।

अवतार चर्चा में प्रायः नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों को श्रेय मिलता रहा है। इसे चर्म-चक्षुओं का स्थूल मूल्यांकन कहा जा सकता है। वस्तुतः युग-परिवर्तन सूक्ष्म जगत में उठने वाले तूफानी चेतना-प्रवाह के रूप में दिव्यलोक से उठते-उभरते हैं। उससे प्रभावित होकर अगणित जागृति आत्माएँ कंधे से कंधा मिलाकर, अपने-अपने ढंग के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हैं। हर अवतार का यही तात्विक स्वरूप है। अगली लाइन में खड़े व्यक्ति का फोटो कैमरे में अधिक साफ आता है। इतने पर भी महत्त्व और अस्तित्व उस 'ग्रुप' के समस्त सदस्यों का होता है। अवतारों के नाम से प्रख्यात व्यक्तियों को अगली लाइन में खड़े—विशेष नेतृत्व करने वाले श्रेयाधिकारी भर कहा जा सकता है। तत्वतः अवतार तो सूक्ष्म जगत में कोलाहल मचाने वाली युग चेतना को ही समझा जा सकता है।

युगशक्ति गायत्री की अवतरण परंपरा में सर्वप्रथम वेदमाता स्वरूप ब्रह्माजी के माध्यम से प्रकट हुआ। भगवती के सात अवतार सात व्याहृतियों के रूप में प्रकटे, जो सात ऋषियों के रूप में प्रख्यात हुए। युग परिवर्तन का नवम् अवतार अब से पिछली बार विश्वामित्र के रूप में हुआ। प्रस्तुत गायत्री मंत्र के विनियोग उद्घोष में गायत्री छंद—सविता देवता—विश्वामित्र ऋषि का उल्लेख होता है। अस्तु अब तक के युग में विश्वामित्र ही नवम् अवतार हैं। ब्रह्माजी के माध्यम से वेदमाता का—सप्तऋषियों के माध्यम से देवमाता का, विश्वामित्र के माध्यम से विश्व माता का अवतार हो चुका। नौ अवतरण पूरे हुए। दशवाँ अपने समय का अवतार युग शक्ति गायत्री का है। अंधकार युग के निराकरण और उज्ज्वल भविष्य का शुभारंभ इसी दिव्य अवतरण के साथ प्रादुर्भूत होते हुए हम सब अपने इन्हीं चर्म-चक्षुओं से प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

❐ ❐

युगशक्ति के रूप में गायत्री चेतना का अरुणोदय

❋

यों मनुष्य के पास प्रत्यक्ष सामर्थ्य भी कम नहीं है और उनका सदुपयोग करके भी वह अपने तथा दूसरों के लिए बहुत कुछ कर सकता है, किंतु उसकी असीम सामर्थ्य को देखना हो तो मानवी चेतना के अंतराल में प्रवेश करना होगा। व्यक्ति की महिमा तो बाहर भी देखी जा सकती है, पर गरिमा का पता चलाना हो तो अंतरंग ही टटोलना पड़ेगा। इस अंतरंग को समझने, उसे परिष्कृत एवं समर्थ बनाने, जाग्रत अंतःक्षमता का सदुपयोग कर सकने के विज्ञान को ही ब्रह्म विद्या कहते हैं। ब्रह्मविद्या के विशाल-कलेवर का बीज सूत्र गायत्री को समझा जा सकता है। प्रकारांतर से गायत्री को मानवी गरिमा के अंतराल में प्रवेश पा सकने वाली और वहाँ जो रहस्यमय है, उसे प्रत्यक्ष में उखाड़ लाने की सामर्थ्य को गायत्री कह सकते हैं। नव युग के सृजन में सर्वोपरि उपयोग इसी दिव्य शक्ति का होगा।

मनुष्य की बहिरंग सत्ता को भी कई तरह की सामर्थ्य प्राप्त है, पर वे सभी सीमित होती हैं और अस्थिर भी। सामान्यतया संपत्ति, बलिष्ठता, शिक्षा प्रतिभा, पद अधिकार जैसे साधन ही वैभव में गिने जाते हैं और इन्हीं के सहारे कई तरह की सफलताएँ संपादित की जाती हैं। इतने पर भी इनका परिमाण सीमित ही रहता है और उनके सहारे व्यक्तिगत वैभव सीमित मात्रा में ही उपलब्ध किया जा सकता है। भौतिक सफलताएँ मात्र अपने पुरुषार्थ और साधनों के सहारे ही नहीं मिल जातीं, वरन् उनके लिए दूसरों की सहायता और परिस्थितियों की अनुकूलता पर भी निर्भर रहना पड़ता है। यदि बाहरी अवरोध उठ खड़े हों—परिस्थितियाँ प्रतिकूलता की दिशा में उलट पड़ें तो साधन और कौशल अपंग बनकर रह जाते हैं और असफलता का मुँह देखना पड़ता है। आत्मशक्ति के साथ जुड़ा हुआ 'वर्चस्' भौतिक साधनों की तुलना में अत्यधिक सुनिश्चित है। उसमें न तो ससीमता

का बंधन है और न स्वल्पता का असंतोष। उस क्षेत्र की प्रचुरता असीम है। आत्मा का संबंध सूत्र परमात्मा के साथ जुड़ा होने के कारण आवश्यकतानुसार उस स्रोत से बहुत कुछ, सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है।

कुएँ में सीमित पानी भरा रहता है, पर खींचने पर जो कमी पड़ती है, उसे भूमिगत जल स्रोत ही पूरी करते रहते हैं। चिनगारी छोटी होती है, पर ईंधन जैसे साधन मिलते ही उसे दावानल का विकराल रूप धारण करने में देर नहीं लगती। व्यापक अग्नितत्त्व का सहयोग मिलने का ही यह चमत्कार है। नदी की धारा सीमित होती है, उसमें थोड़ा-सा ही जल बहता है, पर हिमालय जैसे विशाल जल-स्रोतों के साथ तारतम्य जुड़ा होने के कारण वह अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित ही बनी रहती है, जबकि पोखर का पानी अपने तक ही सीमित रहने के कारण उपयोगकर्त्ताओं का, धूप, हवा का दबाव सह नहीं पाता और जल्दी ही सूखकर समाप्त हो जाता है। भौतिक-सामर्थ्यों की तुलना पोखर के पानी से की जा सकती है और आत्मिक शक्तियों को हिमालय से निकलने वाली नदियों के समतुल्य समझा जा सकता है।

भौतिक पदार्थ परिवर्तनशील हैं। इस जगत का सारा क्रम ही उतार-चढ़ाव के गतिचक्र पर परिभ्रमण करता है। यहाँ अणु से लेकर सूर्य तक सभी गतिशील हैं। वे चलते, बढ़ते और बदलते हैं। स्थिरता दीखती भर है वस्तुतः है नहीं। पदार्थ का स्वभाव ही परिवर्तन है। जन्म और मरण से कोई भी बच नहीं सकता, इसी प्रकार स्थिरता के लिए भी कहीं कोई गुंजायश नहीं है। शरीर शैशव से यौवन तक बढ़ता तो है, पर वृद्धता और मरण भी उतने ही सुनिश्चित हैं। शिक्षा और अनुभव अभ्यास के सहारे बुद्धि-वैभव बढ़ता तो है, पर यह भी निश्चित है कि आयु वाधिक्य के साथ-साथ स्मरण शक्ति से लेकर कल्पना और निर्णय के काम आने वाले बुद्धि-संस्थान के सभी घटक अशक्त होते चले जाते हैं। एक समय ऐसा आता है, जब एक समय का बुद्धिमान दूसरे समय 'मतिहीन' माना जाता है और 'सठियाने' के तिरस्कार का भाजन बनता है। वृद्धावस्था की अशक्तता और रुग्णता

से तो सभी परिचित हैं। बुद्धिबल की तरह इंद्रिय बल भी ढलान के दिन आने पर क्रमशः घटता ही चला जाता है। विभूतियाँ दुर्बल का साथ छोड़ देती हैं। तब पद अधिकार को हस्तगत किये रहना तो दूर गृहपति का पद भी नाम मात्र के लिए ही रह जाता है। परिवार का संचालन कमाऊ लोगों के हाथ में चला जाता है। किसी समय का गृहपति इन परिस्थितियों में मूक-दर्शक और कुछ करने बदलने में अपने आप को असहाय ही अनुभव करता है। राजनैतिक क्षेत्रों में बूढ़े नेताओं को हटाने का जो आंदोलन चल रहा है, उसके पीछे यह अशक्तता के तत्त्व ही काम करते दिखाई पड़ते हैं।

साधनों का भी यही हाल है। धन उपार्जन से मिलने वाली सफलताएँ—बढ़े हुए खर्च के छेद में होकर टपकती रहती हैं और संग्रह का भंडार अपूर्ण ही बना रहता है। फिर उपार्जन की कमी एवं खर्च की वृद्धि के असंतुलन भी आते ही रहते हैं। न तो अमीरी स्थिर है न गरीबी। ऐसी दशा में धन के आधार पर बनने वाली योजनाएँ भी अस्त-व्यस्त बनी रहती हैं। इस क्षेत्र की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अर्थ-साधनों के उपयोगकर्त्ता यदि प्रमादी या दुर्बुद्धि हुए तो संपत्ति का दुरुपयोग होता है और उससे उलटकर विग्रह और संकट ही उपज पड़ते हैं।

प्रत्यक्षतः सब कुछ दीखने वाले भौतिक-साधनों की ससीमता, अस्थिरता, अनिश्चितता को देखते हुए उनके द्वारा जो सफलताएँ मिलती हैं, उन्हें भाग्योदय जैसी आकस्मिकता ही माना जा सकता है। सांसारिक सफलताओं तक के संबंध में उनके सहारे अभीष्ट मनोरथ पूरा हो सकने की आशा भर लगाई जा सकती है, विश्वास नहीं किया जा सकता। जब सामान्य प्रयोजनों तक के संबंध में इतना असमंजस है तो युग परिवर्तन जैसे कल्पनातीत विस्तार वाले—असीम शक्ति साधनों की आवश्यकता वाले महान कार्य को उस आधार पर कैसे संपन्न किया जा सकता है ? इतिहास साक्षी है कि हर दृष्टि से समर्थ समझी जाने वाली सत्ताएँ अपने संप्रदाय को व्यापक बनाने जैसा छोटा मनोरथ तक पूरा न कर सकीं। इस्लाम और क्रिश्चियनों के विस्तार के

लिए आतुर सत्ताधारी हर संभव उपाय अपनाने पर भी बहुत थोड़ी सफलता पा सके हैं। ऐसी दशा में यह सोचना हास्यास्पद ही होगा कि भौतिक-साधनों के बलबूते शालीनता का विश्वव्यापी वातावरण बनाया जा सकना शक्य है। अधिनायकवादियों ने अपने देशों की समूची शक्ति सामर्थ्य मुट्ठी में करके इच्छित परिवर्तन के जो सपने देखे थे, उनकी आंशिक पूर्ति भी नहीं हो पाई है। जर्मनी, इटली, रूस, चीन आदि में साधनों के आधार पर परिवर्तन के प्रयोग बड़े पैमाने पर हुए हैं। उचित से अनुचित तक सब कुछ उस महत्त्वाकांक्षा की रक्षा के लिए बरता गया है। पर्यवेक्षक जानते हैं कि इन प्रयत्नों मे कितनी सफलता मिली ? जो मिली, वह कितना देर ठहर सकी। जो ठहरी हुई है वह कितने समय टिक सकेगी और प्रयोक्ताओं का मनोरथ कितना पूरा कर सकेगी इसमें अभी भी पूरा-पूरा संदेह है ?

भौतिक प्रगति के लिए जो प्रयत्न और प्रयोग चलते रहते हैं—जो सरंजाम खड़े होते हैं, उनमें प्रचुर परिणाम में शक्ति लगानी पड़ती है। उद्योग, व्यवसाय, शिक्षा, चिकित्सा, शांति, सुरक्षा, धर्म-धारणा जैसे कामों में जितनी साधन शक्ति लगती है, उसका विशाल परिमाण और विस्तार देखते हुए हतप्रभ रह जाना पड़ता है। इतने पर भी शांति और प्रगति की समस्या का आंशिक हल ही हो पाता है। साधनों के अभाव का असमंजस सदा ही बना रहता है। योजनाएँ स्थगित होती रहती हैं। जब बाह्य सुविधा-संवर्धन का उद्देश्य प्रस्तुत शक्ति-साधनों के सहारे पूरा होने में इतनी कठिनाई है तो जन मानस का परिष्कार और वातावरण के परिवर्तन जैसा विशाल कार्य इतने भर से किस प्रकार पूरा हो सकेगा ? यह ठीक है कि नव निर्माण के लिए भौतिक-साधनों की भी आवश्यकता है और उन्हें जुटाने के लिए सामर्थ्य भर प्रयत्न करने होंगे; पर उन्हें आधार मानकर नहीं चला जा सकता। कोई भौतिक योजना चाहे वह कितनी ही बड़ी और कितने ही अधिक साधनों पर अवलंबित क्यों न हो, इतने महान, इतने व्यापक उद्देश्य को पूरा कर सकने में समर्थ हो नहीं सकेगी।

परिवर्तन व्यक्ति के अंतराल का होना है। दृष्टिकोण बदला जाना है। आस्थाओं का परिष्कार किया जाना है और आकांक्षाओं का प्रवाह मोड़ना है। सदाशयता का पक्षधर मनोबल उभारना है। आत्म ज्ञान करना और आत्म गौरव जगाना है, यही है युग परिवर्तन का मूलभूत आधार। आंतरिक परिष्कार की प्रतिक्रिया ही व्यक्ति की उत्कृष्टता और समाज की श्रेष्ठता के रूप में परिलक्षित होगी। सारा प्रयास, पुरुषार्थ अंतर्जगत से संबंधित है। इसलिए साधन भी उसी स्तर के होने चाहिए। सामर्थ्य ऐसी होनी चाहिए, जो अभीष्ट प्रयोजन को पूरा कर सकने के उपयुक्त सिद्ध हो सके। निश्चित रूप से यह कार्य आत्म शक्ति का ही है। उत्पादन और उपयोग उसी का किया जाना है। युग निर्माण के लिए इसी ऊर्जा का उपार्जन आधारभूत काम समझा जा सकता है। ऐसा काम, जिसे करने की आवश्यकता ठीक इन्हीं दिनों है।

आत्म-शक्ति का उत्पादन जिन यंत्रों द्वारा जिन कारखानों में किया जाता है, उसे व्यक्ति चेतना ही नाम दिया जा सकता है। मानवी अंतःकरण को अणु ऊर्जा उत्पादन केंद्र के तुल्य माना जा सकता है। शरीर तो आवरण मात्र है इसकी तुलना आयुध, औजार, वाहन आदि से की जाती है। उससे कितना कुछ हो सकता है, इसें श्रमिक से लेकर पहलवान तक की तुच्छ सफलताओं को देखते हुए जाना जा सकता है। बुद्धिबल इससे ऊँचा है। पर वह भी तथाकथित व्यवहार-कुशल बुद्धिमानों से लेकर शोध-कर्त्ताओं की सीमा तक पहुँचकर समाप्त हो जाता है। उस आधार पर व्यक्ति की उन्नति और समाज की सुविधा कुछ न कुछ तो बढ़ती ही है, पर उतने भर से व्यापक परिवर्तनों की आशा नहीं की जा सकती। पैसा तो जैसा कुछ है वैसा है ही। उसके सहारे लंबी योजनाएँ बनाने से पहले यह सोचना पड़ता है कि वे जिनके हाथ में रहेंगे, उन्हें नैतिक दृष्टि से जीवित भी छोड़ेंगे या नहीं। सार्वजनिक उपयोग में आने से पहले ये प्रयोगकर्ताओं को भी लुभाते और उन्हीं में अटककर रह जाते हैं। लोक मंगल के लिए बनी सरकारी योजनाओं के लिए निश्चित की गई धनराशि का कितना अंश

अभीष्ट प्रयोजन में लगता है और कितना बिचौलिये हड़प जाते हैं ? यह कौतुक हर किसी को पग-पग पर देखने के लिए मिलता रहता है। ऐसी दशा में युग-निर्माण के लिए उस शक्ति का संचय कर लेने पर भी क्या कुछ प्रयोजन पूरा हो सकेगा इसमें पूरा-पूरा संदेह है।

आत्मिक क्षेत्र की योजनाएँ आत्मशक्ति के उपार्जन और नियोजन से ही संभव हो सकेंगी। मनुष्य के अंतराल में सन्निहित ज्ञात और अविज्ञात शक्तियों की समर्थता और संभावना असीम है। उसे अनंत कहा जाये तो भी अत्युक्ति न होगी। मनःशास्त्री बताते हैं कि मानवी मस्तिष्क अद्‌भुत है। उसकी सुविस्तृत क्षमता में से अभी तक मात्र ७ प्रतिशत को जाना जा सका है। इसमें से मुश्किल से एक या दो प्रतिशत का उपयोग सामान्य जीवन में हो पाता है। इससे अधिक का जो उपयोग कर लेते हैं, वे मनीषियों और तत्त्वदर्शियों में गिने जाते हैं। परामनोविज्ञान द्वारा अतींद्रिय क्षमताओं की जो जानकारी मिल रही है, उससे पता चलता है कि मानवी मस्तिष्क सचमुच ही जादुई तिलिस्म है, उसे भानुमती का पिटारा, विलक्षणताओं का भंडार बताया जाता रहा है। बात वैसी ही है। मस्तिष्क की सचेतन परत को उभारने और उपयोग कर सकने में समर्थ व्यक्ति कालिदास वरदाचार्य जैसी भूमिकाएँ निभा सकते हैं। अचेतन परतों का तो कहना ही क्या ? वे ही व्यक्तित्वों के निर्माण और विकास के लिए पूरी तरह जिम्मेदार हैं। वर्तमान और भविष्य की इसी टकसाल के अंतर्गत ढलाई होती है। कर्म लेख, भाग्य विधान विधि के अंक-चित्र गुप्त का आलेखन कहाँ होता है ? इसका स्पष्ट संकेत मस्तिष्क के सुनियोजित दफ्तर की ओर ही होता है।

अतींद्रिय क्षमताओं को ही ऋद्धियों और सिद्धियों के नाम से जाना जाता है। यह कहीं आसमान से नहीं उतरतीं और न किसी देवी-देवता द्वारा उपहार में दी जाती हैं। वे निश्चित रूप से अपने ही अंतराल का उत्पादन होती हैं। धरती की परतें खोदते जाने और गहरे उतरते जाने पर बहुमूल्य खनिज संपदा प्राप्त होती है। समुद्र में गहरी डुबकी लगाकर, गोताखोर मोती समेटकर लाते हैं। मानवी अंतराल भी

ऋद्धि-सिद्धियों का अनूठा भंडार है। परमात्मा का अंश होने के कारण आत्मा में उसकी सभी क्षमताएँ और विशेषताएँ बीज रूप से विद्यमान हैं ? अंतर आकार भर का है। सौरमंडल और अणु परिवार की संरचना और गति व्यवस्था में मात्र आकार का ही अंतर है। तत्त्व और तथ्य दोनों में एक ही स्तर के हैं। समूचा मनुष्य छोटे-से शुक्राणु में छिपा बैठा होता है। वृक्ष की विशालता और विशेषता बीज के छोटे-से कलेवर में पाई जाती है। परमात्मा में जो कुछ है वह सब प्रसुप्त रूप से आत्मा की छोटी सत्ता में उसी प्रकार विद्यमान है, जैसे विशाल ग्रंथ के सहस्रों पृष्ठ छोटी-सी माइक्रो फिल्म पर अंकित कर लिए गये होते हैं।

सर्व समर्थ परमात्मा के छोटे घटक आत्मा की मूर्छना को जाग्रति में बदल देने की प्रक्रिया अध्यात्म साधना है और अध्यात्म साधना के विभिन्न विधि-विधानों में गायत्री उपासना को ही सर्वश्रेष्ठ और सर्व-सुलभ माना गया है। आदिकाल से लेकर आद्यावधि उस महाविज्ञान के संबंध में अनुभवों और प्रयोगों की विशालकाय शृंखला जुड़ती चली आई है। प्रत्येक शोध में उसकी नित नूतन विशेषताएँ उभरती चली आई हैं। प्रत्येक प्रयोग में उसके अभिनव शक्ति स्रोत प्रकट होते रहे हैं।

व्यक्ति का बहिरंग-भौतिक पक्ष सामान्य है। असामान्य तो उसका अंतराल ही है। इस रहस्यमय क्षेत्र के विशिष्ट उत्पादनों में गायत्री का कृषि विज्ञान आशाजनक सफलताएँ प्रस्तुत करता है। नवयुग के व्यक्ति को आत्मिक संपदाओं से सुसंपन्न बनना है। धरती पर स्वर्ग के अवतरण में आत्मिक विभूतियों की ही सुसंपन्नता का विस्तार होगा। भाव-संवेदनाओं की उत्कृष्टता ही मनुष्य में देवत्व का उदय करेगी और इसी उत्पादन के बलबूते इस संसार में स्वर्गीय परिस्थितियों का, बाहुल्य और दिव्य शक्तियों का वर्चस्व स्थापित हो सकेगा। इस कार्य में गायत्री के तत्त्व ज्ञान और साधना विधान का अनुपम योगदान होगा। अस्तु उसे युग शक्ति गायत्री के रूप में समझा और अपनाया जाना उचित ही माना जायेगा।

❐ ❐

देवत्व का अवतरण युग साधना गायत्री के माध्यम से

❋

नवयुग की प्रधान प्रक्रिया है—'मनुष्य में देवत्व का उदय।' 'दूसरी संभावना' धरती पर स्वर्ग का अवतरण प्रमुख नहीं है, उसे प्रतिक्रिया भर कहा जा सकता है। श्रेष्ठ सज्जनों की, समर्थ सत्प्रवृत्तियों की, समन्वित गतिविधियों का परिणाम और परिपाक मंगलमयी परिस्थितियों के रूप में सामने आना ही चाहिए। इन्हीं को धरती पर स्वर्ग का अवतरण कहा गया है। इसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। सक्रियता और सद्भावनाओं का सम्मिश्रण ही दो रंगों को मिला देने से तीसरा रंग बन जाने की तरह सुख-शांति भरे वातावरण के रूप में परिलक्षित होता है। सतयुग और राम-राज्य में सुविधाओं की कमी न थी, क्योंकि लोगों के व्यक्तित्व और व्यवहार में उच्चस्तरीय आदर्शवादिता का समावेश था।

परिस्थितियाँ दृश्यमान तो होती हैं—अनुभव में भी वही आती हैं, पर वस्तुतः उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। जन मानस के आकाश में जब वर्षा के जल बिंदु भरे रहते हैं, तो उन पर चमकने वाली किरणें इंद्र धनुष के रूप में प्रतिभाषित होती हैं। वैसा ही नयनाभिराम दीखने वाला, मनमोहक लगने वाला सतयुग के रूप में दृष्टिगोचर होता है। मनःस्थिति की प्रतिक्रिया ही परिस्थिति होती है। मनुष्य में देवत्व का उदय ही प्रधान है। धरती पर स्वर्ग का अवतरण अलग से दीखता भर है इसलिए उसका नाम भी पृथक देना पड़ता है। तत्त्वतः दोनों को क्रिया और प्रक्रिया के रूप में अविच्छिन्न ही माना जा सकता है।

अब पर्यवेक्षण मनुष्य में देवत्व के उदय का किया जाना चाहिए। देवताओं के व्यक्तित्व में अनेकों विशेषताएँ होती हैं। वे सुंदर होते हैं तरुण रहते हैं। प्रसन्न दीखते हैं। उदारता बरतते हैं। उनके पास समृद्धियों की कमी नहीं रहती। स्वयं तृप्त रहते हैं और दूसरों को तृप्त करते हैं। ऐसी-ऐसी अनेकों विभूतियों से भरी पूरी

सत्ता 'देव' कहलाती है। कल्पना क्षेत्र में ऐसे देवता किसी विशेष लोक में निवास करने वाले अदृश्य प्राणी भी माने जाते हैं और उनकी अभ्यर्थना से अनेकों वरदान मिलने के स्वप्न देखे जाते हैं। इसमें सचाई कम और अलंकारिक कल्पना अधिक है। इतने पर भी दैवी सत्ता का अस्तित्व सुनिश्चित है। उसे प्रत्यक्ष देखना हो तो उत्कृष्ट व्यक्तित्वों में उस गरिमा का दर्शन प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

जो विशेषताएँ देवताओं की सत्ता में परिकल्पित की गई हैं। लगभग उन्हीं से महामानवों को सुसंपन्न पाया जाता है। अलंकारिक प्रतिपादन तो थोड़ा-सा ही बचा रहता है। उसमें लाक्षणिकता तो होती है, पर वास्तविकता का अंश भी इतना बढ़ा-चढ़ा होता है कि उस वर्णन को भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता। सदा तरुण और सदा अमर रहने वाली बात काया की दृष्टि से अवास्तविक होते हुए भी चेतना के स्तर को देखते हुए अक्षरशः सही है। उमंगों की दृष्टि से तरुणाई वयोवृद्ध होने पर यथावत् बनी रहती है। शरीरों के बदलते रहने पर भी आत्मा को अमरता का यथार्थ बोध प्रत्येक तत्त्वज्ञानी को सुनिश्चित रूप से होता रहता है। ब्राह्मणों को 'भूसुर' की पदवी परंपरागत प्रचलन के अनुसार सहज ही मिली है। देवमानवों का ही दूसरा नाम महामानव है। उन्हीं के तीन वर्ग संत, सुधारक और शहीदों के रूप में पाये जाते हैं। इन्हीं की यश गाथा का गुणानुवाद कथा पुराणों में, संस्मरण उद्धरणों में—उत्साहपूर्वक कहा और सुना जाता है। ऋषि इसी स्तर के मनुष्यों को कहते हैं। महर्षि, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि इनकी श्रेणियाँ हैं। देवात्मा शब्द ऐसे ही महा मानवों के लिए प्रयुक्त होता है। चिंतन और चरित्र की उत्कृष्टता तथा व्यवहार में शालीनता और गतिविधियों में आदर्शवादिता भरी रहने के कारण इस समुदाय का जीवित एवं अवसान के उपरांत निरंतर वंदन-अभिनंदन होता रहता है। देव-पूजन की परंपरा में इसी तथ्य को बार-बार उभारा जाता है। देव-प्रतिमाओं की स्थापना और उनकी पूजा अभ्यर्थना के माध्यम से इसी लोक शिक्षण की पुण्य-परंपरा को सजीव रखा जा सकता है कि देवत्व के

प्रति साधना श्रद्धा बनाये रहने में ही लोक-कल्याण की समस्त संभावनाएँ सन्निहित हैं।

जिस नवयुग के आगमन की आशा, अपेक्षा और प्रतीक्षा की जा रही है—जिसे धरती पर स्वर्ग का अवतरण कहा गया है, उसे प्रकारांतर से देव युग कहना भी कोई अत्युक्ति नहीं है। पुराणों में महामानवों को देवताओं का अवतार सिद्ध करने वाले अनेकों उपाख्यान मौजूद हैं। भगवान जब राम के रूप में अवतार लेकर आये तो रीछ-वानरों के रूप में देवताओं ने भी साथ-साथ ही अवतार लिया था। भगवान कृष्ण के साथ पाँच पांडवों के रूप में पाँचों प्रमुख देवता सहायक शक्ति बनकर धरती पर आये थे। इतना ही नहीं स्वयं भगवान ने मनुष्य आकृति में ही अनेकों बार अनेकों प्रयोजनों की पूर्ति के लिए अवतार लिए हैं। इन उपाख्यानों के माध्यम से यही तथ्य स्पष्ट होता है कि मानवी काया में देव सत्ता की रीति-नीति का, गतिविधियों का दर्शन हो सकना पूर्णतया शक्य है। किसी समय इस स्वर्गादपि गरीयसी भारत भूमि के तैंतीस कोटि निवासी-नागरिक संसार भर में तैंतीस कोटि देवताओं के नाम से प्रख्यात थे। उन्हें देवोपम श्रद्धा सम्मान धरती के इस छोर से उस छोर तक प्राप्त था। मनुष्य में देवत्व के उदय का यही स्वरूप है।

सत्कर्म, सद्ज्ञान और सद्भाव की त्रिविध देव-संपदा से संपन्न मनुष्यों को अध्यात्म की भाषा में देव मानव कहा जाता रहा है। इतिहासकार उन्हें 'महामानव' नाम देते रहे हैं। जिनमें शरीर एवं साधनों की दृष्टि से समर्थता, बौद्धिक दृष्टि से सजगता और अंतःकरण की दृष्टि से आत्मभाव की सरस स्नेहशीलता विद्यमान है, उन्हें नर-नारायण की संज्ञा दी जाती रही है। उन्हें पुरुष पुरुषोत्तम भी कहते हैं। उत्कृष्टता संपन्न नर देहधारी आत्माएँ ही देवात्मा और परमात्मा का परम पद प्राप्त करती हैं।

नव युग का उत्पादन यही है। स्वर्ग से धरती पर इसी गरिमामयी गंगा का अगले दिनों अवतरण होना है और इसी के लिए भागीरथ तप किया जाना है। यही है अपनी युग-साधना का

स्वरूप, जिसमें जागृत आत्माओं को संलग्न होने के लिए महाकाल की प्रबल प्रेरणा हुँकार भर रही है।

उज्ज्वल भविष्य के सपने प्रायः हर समर्थ क्षेत्र ने अपने-अपने ढंग से संजोये हैं। यह भी सभी को विदित है कि मात्र साधनों का संवर्धन ही सब कुछ नहीं है। व्यक्ति को भी अधिक सुयोग्य और समर्थ बनाना है। इसके लिए विभिन्न स्तर के उपाय भी सोचे अपनाये जा रहे हैं। स्वास्थ्य-संवर्धन की, शिक्षा विस्तार की योजनाएँ इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनती हैं। अर्थ साधनों के सहारे मनुष्य अधिक सुविकसित हो सके, यही अर्थ विकास की योजनाओं का लक्ष्य है। समाज सुधारक और सेवा संगठन अपने ढंग से इसी प्रयोजन को लक्ष्य मानकर चल रहे हैं कि दुष्प्रवृत्तियों से छुटकारा प्राप्त करके, मनुष्य सत्प्रवृत्तियों से सुसंपन्न बन सके। धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में सुसंस्कारिता और श्रद्धा के संवर्धन के लिए तत्त्व ज्ञान और साधन विधान को लोकप्रिय बनाने के लिए प्रयास होते रहते हैं। यह सामान्य स्तर की सर्वविदित चेष्टाएँ हैं, जिनसे वैयक्तिक उत्थान की आशा की जाती है।

उच्चस्तरीय स्तर पर इसी प्रयोजन के लिए दूसरे प्रयत्न चल रहे हैं। वैज्ञानिकों का एक वर्ग गुण सूत्रों की सूक्ष्म इकाइयों में हेर-फेर करने और ऐसी सफलता पाने के लिए प्रयत्नशील है, जिसके आधार पर नई पीढ़ियों के रूप में अधिक अच्छी फसल हाथ लग सके। पेड़-पौधों के स्वरूप और उनके फल-फूलों को विकसित करने के लिए कलम लगाने जैसी पद्धतियाँ अपनाई गई हैं। पशु प्रजनन के लिए कृत्रिम उपाय सोचे गये हैं और सफल भी हुए हैं। रज-वीर्य के स्तर एवं निषेचन-क्रम में उलट-पुलट करके वर्तमान लोगों को न सही अगली पीढ़ी की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति को अपेक्षाकृत अधिक समुन्नत बनाने के लिए प्रयत्न चल रहे हैं।

मनोवैज्ञानिकों के प्रयत्न इससे भी अधिक उच्चस्तरीय हैं। वे व्यक्ति को काय-कलेवर और साधन-सामग्री से बहुत आगे की सत्ता मानते हैं और उसका निरूपण 'मनस्' तत्त्व के रूप में करते हैं। शरीरगत दुर्बलता और रुग्णता के लिए, वे मानसिक विकृतियों को ही

उत्तरदायी मानते हैं। चिंतन की अस्त-व्यस्तताओं और दृष्टिकोण की निकृष्टता के कारण मनुष्य का निजी और सामाजिक जीवन कितना दुर्गतिग्रस्त होता है, इसके पक्ष में पर्वत जितने प्रमाण मिलते जाते हैं। खिन्नता और उद्विग्नता से ग्रसित रहना परिस्थितियों के कारण नहीं चिंतन की अव्यवस्था के कारण ही होता है। मनःशास्त्री पूरा बल देकर कहते हैं कि व्यक्ति को सही सोचने का तरीका समझाने और वातावरण बनाकर, उसके लिए अभ्यस्त करने का प्रयत्न ही मानवी कल्याण का प्रधान उपाय है। पैरा साइकालोजी—मैटाफिजिक्स —न्यूरोलोजी आदि मनोविज्ञान की धाराओं का प्रयोग, प्रतिपादन इसी दृष्टि से चल रहा है कि अगले दिनों व्यक्तित्वों को अधिक समर्थ समुन्नत और सुसंस्कृत बनाया जा सके।

दार्शनिक दृष्टि से भी इस दिशा में कम काम नहीं हुआ है। नीत्से आदि दार्शनिकों द्वारा अतिमानव की कल्पना दी गई, कहा—मनोबल संपन्न महत्त्वाकांक्षाएँ अपनाकर, कोई व्यक्ति या वर्ग असाधारण बन सकता है और उस वर्चस के आधार पर साधारणों को नियंत्रण में रखने और इच्छित दिशा में चलने के लिए विवश कर सकता है। ऐसे अति मानवों का समुदाय स्वयं गौरवशाली रह सकता है और जन समुदाय को अभीष्ट प्रगति की दिशा में घसीटता, धकेलता, खदेड़ता चल सकता है। इस प्रतिपादन का वर्तमान शताब्दी के आरंभ में बड़ा जोर-शोर से प्रचार हुआ। महत्त्वाकांक्षी लोगों को यह रुचा भी बहुत और उन्होंने इसे कार्यान्वित करने के लिए आतुर प्रयास भी किए। अधिनायकवाद इसी प्रतिपादन की देन है। जर्मनी में इसका प्रयोग राजकीय स्तर पर पूरे जोश-खरोश के साथ हुआ। नाजीवाद उभरा। हिटलर ने इस विचारधारा का अपने देश में पूरी तरह प्रयोग किया और जर्मन नागरिकों को उसी रंग में सरावोर कर दिया। जातीय श्रेष्ठता की मदिरा पीकर एक बड़ा समाज महत्त्वाकांक्षाओं के उन्माद से इस बुरी तरह आवेशग्रस्त हो चला कि पड़ौसी देशों को अकारण कुचलते हुए समूचे यूरेशिया को उरदस्थ कर जाने के लिए लोभ संवरण कर सकना संभव ही न रहा। प्रथम विश्व युद्ध से

लेकर—द्वितीय महायुद्ध तक के रोमांचकारी आक्रमणों में संलग्न जर्मनी की गतिविधियाँ इसी अतिमानव वाद की देनें थी। उसे दैत्य दर्शन के सामयिक प्रयोग की संज्ञा दी जा सकती है। यह हवा इटली, रूस, चीन आदि अनेक देशों को न्यूनाधिक रूप में प्रभावित करती रही है और उसके उद्धत प्रदर्शन समय-समय पर सामने आते रहे हैं। दक्षिण-अफ्रीका से लेकर अमेरिकी गोरों तक के अनेक समुदाय अपने-अपने ढंग से जातीय श्रेष्ठता का अहमन्यता से बेहिचक उत्पीड़न करते रहे हैं। वर्ग, लिंग, जाति, समाज, राष्ट्र के नाम पुराना सामंतवाद अब नये फासिज्म का रूप इन्हीं दार्शनिक सिद्धांतों को उत्साहपूर्वक अपनाने लगा है और उसे तर्कसंगत सिद्ध कर रहा है।

अधिनायकवाद फासिज्म वर्ग विशेष को अति मानव बनाने की एक दार्शनिक चेष्टा है। उससे उत्पन्न लाभ-हानि का उचित-अनुचित का विवेचन यहाँ नहीं हो रहा है। इन पंक्तियों में तो इतना ही कहा जा रहा है कि अति मानव बनाने की उत्तेजनाएँ दार्शनिक क्षेत्र में भी उत्पन्न की जाती रही हैं। मौन वहाँ भी नहीं है।

उपरोक्त स्तर के सभी प्रयत्न मनुष्य के बहिरंग पक्ष का स्पर्श करते हैं और उसे भौतिक सामर्थ्यों से सुसज्जित करके उसी प्रकार की प्रगति की अपेक्षा करते हैं। विचारणीय यह है कि क्या इन सामर्थ्य साधनों की आज भी कमी है ? अंतर इतना ही है कि इन दिनों साधन और शक्ति अलग से विद्यमान है, उसी को इन प्रयत्नों के द्वारा शरीर के अंतर्गत प्राप्त कर लिया जायेगा, इससे क्या बना, लाठी का प्रहार किया जाए या घूँसे का अंतर थोड़ा-सा ही है। जो कार्य आज लाठी के माध्यम से पूरा होता है। वही कल घूँसे से होने लगा तो भी स्थिति तो लगभग यथावत ही बनी रही। भौतिक प्रगति आज भी कम कहाँ है ? उसे बाह्य साधनों के सहारे न सही शरीर के अवयवों के माध्यम से उपलब्ध और प्रयुक्त किया जाने लगा, तो भी स्थिति में कोई विशेष अंतर आने वाला नहीं है।

हमें अति मानव नहीं अति मानस चाहिए। दैत्य नहीं हमें देव अपेक्षित हैं। पदार्थों में दैत्य और भावनाओं में देव रहता है। मानवी प्रगति की वास्तविकता उसके अंतर्जगत को सुसंपन्न बनाने में है।

अंतःकरण में स्नेहिल सद्भावना उभरे-ममता और करुणा का निर्झर उछले तो ही समझा जाना चाहिए कि व्यक्ति ने देवत्व की दिशा में चल पड़ने का साहस संजोया है। चरित्रनिष्ठा आदर्शवादिता और परमार्थ परायणता की आस्थाएँ जब त्रिवेणी संगम का रूप धारण करें तो समझना चाहिए कि उस देवत्व का आविर्भाव हो चला जिसे अति मानस की, दैवी अंतःकरण की संज्ञा दी जा सकती है। योगी अरविंद के पूर्णयोग प्रतिपादन में यह अति मानस ही लक्ष्य है। इसी स्तर के व्यक्ति जीवन मुक्त, परमहंस, देव मानव, सिद्धपुरुष, ऋषि कल्प कहलाते हैं। जीवन लक्ष्य की पूर्णता इसी स्थिति में पहुँचने पर होती है। दैवी शक्तियों के अवतरण जिस भूमि पर होते हैं, वह यह अति मानस का ही कैलाश पर्वत है। इसी को क्षीर सागर, मान सरोवर आदि का नाम दिया गया है। गायत्री का प्राण-प्रिय वाहन राज हंस इसी ब्रह्म लोक में विचरण करता है।

नव युग का अवतरण इसी अति मानस के विकास-विस्तार की व्यापक संभावना साथ लेकर, अपनी इसी धरती पर प्रकट होने ही वाला है। इसका माध्यम क्या होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में गायत्री महा शक्ति की उदीयमान किरणों का दर्शन किया जा सकता है। चौबीस अक्षरों के शब्द-गुंथन से भरा-पूरा यह नन्हा-सा मंत्र अपने अंतराल में ऐसे तत्त्व-सूत्र और बीज छिपाये हुए हैं, जो मानवी अंतरात्मा के गहन-गह्वर तक अपना प्रभाव पहुँचाता है। पशु को मनुष्य और मनुष्य को देव बनाने की क्षमता उसमें विद्यमान है। गायत्री का तत्त्व ज्ञान उच्चस्तरीय विवेक को जाग्रत करने की, तृतीय नेत्र-दिव्य दृष्टि खोलने की कुंजी है। उसकी उच्चस्तरीय साधना भागीरथी तप के समतुल्य है। अंतःकरणों की सीपों में गायत्री महाशक्ति अमृत की वर्षा से ऐसे मोती उत्पन्न होंगे, जिन्हें नव युग के नर-रत्न कहा जा सके। इन दिनों विश्व मानव को अति मानस को उपलब्ध करने के लिए जिस दिव्य शक्ति की अभ्यर्थना-आराधना पड़ रही है; उसे युग शक्ति गायत्री के नाम से जाना जा सकता है।

❐ ❐

गायत्री उपासना से व्यक्तित्व का समग्र उत्कर्ष

❋

विकास-क्रम की उपयोगिता तभी है, जब वह समग्र और संतुलित हो। शरीर का कोई एक भाग अधिक बड़ा-मोटा, भारी हो जाए और अंग दुबले-पतले बने रहें, तो उससे शोभा नहीं कुरूपता ही बढ़ेगी। उस एकाकी प्रगति को रुग्णता का चिन्ह माना जायेगा। स्वास्थ्य, शिक्षा, संपत्ति के साथ-साथ शालीनता का भी समन्वय रहना चाहिए। इनमें से कोई एक पक्ष तो बढ़ चले किंतु सब पिछड़ी स्थिति में पड़े रहें, तो स्थिति संतोषजनक नहीं मानी जायेगी और वह असंतुलन उपहासास्पद ही समझा जायेगा।

आत्मिक प्रगति के लिए सद्कर्म, सद्ज्ञान और सद्भाव संवर्धन की आवश्यकता रहती है। कर्म, ज्ञान और आस्था के तीनों क्षेत्रों को समुन्नत बनाने का प्रयत्न करते हुए समग्र आत्मिक प्रगति के पथ पर चल सकना संभव होता है। इन तीनों का ही तीन तरह अभिवर्धन-परिपोषण करा सकने में समर्थ होने के कारण भी गायत्री को त्रिपदा कहा गया है। यों इस नामकरण के और भी कितने ही प्रयोजन हैं ?

शरीर से कर्म, मन से ज्ञान और अंतःकरण से भाव बन पड़ते हैं। इन तीनों ही क्षेत्रों में सक्रियता, सदाशयता एवं सात्विकता की अभिवृद्धि जिस क्रम से होती है, उसी अनुपात से मनुष्य में देवत्व बढ़ता चला जाता है। देवत्व के साथ अनेकानेक ऋद्धियों और सिद्धियों का समुच्चय जुड़ा-हुआ रहता है। सर्वतोमुखी प्रगति का आधार गायत्री के त्रिपदा स्वरूप से बनता है। उसकी उपासना मे ऐसे ही धकापेल शब्दों की रटंत भर नहीं होती, वरन् साधक को शरीर, मन एवं अंतःकरण को परिष्कृत करने के भाव भरे उपचार भी करने होते हैं और इसके लिए कितने ही प्रकार के अनुशासन, प्रतिबंध अपने ऊपर लादने पड़ते हैं ? तपश्चर्या इन्हीं अनुबंधों को

कहते हैं। उपासना में प्रखरता भर जाने का रहस्यमय आधार इन तप अनुशासनों को ही माना गया है।

शरीर से सयम, मन से ध्यान और अंतःकरण से समर्पण की त्रिविध प्रक्रियाएँ अपनाने से त्रिपदा की समग्र साधना बन पड़ती है।

उच्चस्तरीय गायत्री उपासक को आहार और विहार का संयम बरतना चाहिए। आहार में सात्विकता का अधिकाधिक समावेश किया जाय। आहार की उत्कृष्टता बढ़े किंतु मात्रा घटे तो उससे शरीर को स्वास्थ्य-संवर्धन का और चेतना को देवत्व की अभिवृद्धि का लाभ मिलता है। अस्वाद व्रत पालन से लेकर शाकाहार जैसे उपवास उपक्रमों में आहार का रजोगुण, तमोगुण भी घटता है और पेट और मन पर अनावश्यक भार की तरह लदी रहने वाली उत्तेजना भी शांत होती है। खाद्य-पदार्थों की प्रकृति सात्विक रहेगी तो फलस्वरूप मन में एकाग्रता, शांति एवं सौम्यता की सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ेंगी। अन्न से मन का स्तर बनने की बात सर्वविदित है। आहार संयम के इंद्रिय-निग्रह को मन को वश में करने का—प्रथम चरण माना गया है। उसी प्रकरण में दूसरा चरण ब्रह्मचर्य है। रज-वीर्य को जीवनी शक्ति का भंडार माना गया है। उसका कोष बढ़ता है, तो वह पूँजी ओजस्, तेजस् और वर्चस् में परिवर्तित होकर चेतना की उच्चस्तरीय समर्थता बढ़ाती जाती है। ब्रह्मचर्य का स्थूल रूप वीर्य-पात पर नियंत्रण करने से होता है और सूक्ष्म रूप में नारी के प्रति पवित्र भावना अपनाने का अभ्यास करना होता है। सूक्ष्म वीर्य का, ओजस् का, क्षरण कुत्सित दृष्टि से होता है। वही वास्तविक व्यभिचार है। नारियों के प्रति कुदृष्टि रखने और अचिंत्य चिंतन करने से ओजस् का बुरी तरह क्षरण होता है और आंतरिक समर्थता घटती है। इस अशक्तता की स्थिति से आत्मिक पुरुषार्थ बन नहीं पड़ता और साधना के जो सत्परिणाम होने चाहिए, उन्हें प्राप्त कर सकना कठिन बनता चला जाता है। अस्तु शरीर साधना में संयम बरतना होता है और अनुशासित सुव्यवस्थित दिनचर्या बनाकर कर्मयोगी की तरह जीवनयापन करना

होता है। यह त्रिपदा के एक पक्ष की, स्थूल शरीर की, तपश्चर्या समझी जा सकती है।

दूसरा पक्ष है—मन इसी संस्थान को सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं। त्रिपदा के द्वितीय चरण की साधना मनोनिग्रह से संबंधित है। इसके लिए 'ध्यान-योग' का अभ्यास करना होता है। ध्यानयोग के दो प्रयोजन हैं—एक मन की अनावश्यक और अवांछनीय भगदड़ को नियंत्रित करना, एकाग्र होना। इससे बिखराव में नष्ट होने वाली शक्ति का अपव्यय बच सकता है और इस बचत का उपयोग रचनात्मक उपयोगी कार्य में हो सकता है। ध्यान का दूसरा प्रयोग है—मनःशक्ति का प्रगतिशील प्रयोजनों में उपयोग। प्रसुप्त अतींद्रिय क्षमताओं को उभारने के लिए एकाग्र मनःशक्ति को ही समर्थ उपकरण की तरह प्रयुक्त किया जाता है। जीवन-लक्ष्य की दिशा धाराएँ प्रायः भौतिक-लिप्साओं की बहुलता के कारण विस्मृत जैसी हो जाती हैं। जीवन किसलिए मिला है ? और उस दिव्य अनुदान का उपयोग किन कार्यों में किस प्रकार होना चाहिए ? इस प्रसंग पर कदाचित ही कभी गंभीर मनन-चिंतन होता है। ध्यान में बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को अंतर्मुखी किया जाता है और अंतःक्षेत्र की दिव्यता को प्रखर परिष्कृत बनाने का प्रयत्न किया जाता है। उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ध्यान की अनेक विधियाँ साधकों की मनःस्थिति को देखते हुए बताई, सिखाई जाती हैं। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श की तन्मात्राएँ कान, नेत्र, जिह्वा, नासिका एवं त्वचा की पाँच ज्ञानेंद्रियों से संबंधित हैं। पाँच तत्त्वों का प्रतिनिधित्व इन्हीं से होता है। शब्द आकाश से, रूप अग्नि से, रस जल से, गंध पृथ्वी से और स्पर्श पवन से संबंधित है। इस परिकर के अंतराल में जो रहस्य छिपे पड़े हैं, उन्हें उपलब्ध करने के लिए क्रमशः जपयोग, आकृति ध्यान, तप संयम, प्राणायाम, सोहम् साधना क्रियायोग का अभ्यास कराया जाता है। इन पाँच तथ्यों पर आधारित पंचकोशी साधना को ही पंचमुखी गायत्री के नाम से जाना जाता है। यह सारा अभ्यास ध्यानयोग के अंतर्गत ही आता है। मस्तिष्क की

सचेतन, अचेतन और उच्चचेतन की तीनों परतों में मानवी चेतना की समस्त विशिष्टताएँ और विभूतियाँ दबी पड़ी हैं, उन्हें ढूँढ़ निकालने परिपक्व करने एवं महान प्रयोगों में लाने की स्थिति उत्पन्न करना ध्यानयोग का उद्देश्य है। सूक्ष्म शरीर में गायत्री का प्रयोग करना सामान्य एवं असामान्य मानसिक शक्तियों से लाभान्वित होने का उद्देश्य ध्यानयोग से ही पूरा होता है। गायत्री-साधना का द्वितीय पक्ष मनःसंस्थान को भौतिक एवं आत्मिक प्रगति के उपयुक्त बनाने के लिए है। ध्यान इसी प्रयोजन को पूरा करता है।

त्रिपदा के तीन चरणों में उपासना के माध्यम से समग्र जीवन विकास के आधार भूत कारणों को परिष्कृत करने की शिक्षा दी गई है। अध्यात्म शास्त्र के अनुसार शरीर तीन माने गये हैं—(१) स्थूल—रक्त-मांस से बनी हुई प्रत्यक्ष काया। (२) सूक्ष्म—मन, बुद्धि और चित्त की तीन मानसिक परतों का समुच्चय मनःसंस्थान (३) कारण—अंतःकरण, अंतर्जगत। आस्थाओं एवं इच्छाओं का मर्म स्थल। विकास इन तीनों का ही अपेक्षित है। उन्हें पैर, धड़ और सिर के तीन वर्गों की तरह समझा जा सकता है। समग्र और संतुलित विकास के लिए इन तीनों को ही परिपुष्ट बनाया जाना चाहिए। इसी के संकेत गायत्री साधना में सन्निहित हैं। उपासना उपक्रमों का दर्शन और प्रशिक्षण इस उद्देश्य की पूर्ति करता है।

अंतःकरण की उत्कृष्टता तीन तथ्यों पर आधारित है। एक आदर्शवादी आस्थाएँ—दूसरी ममता भरी भाव-संवेदनाएँ उत्कृष्ट स्तर की आकांक्षाएँ। गायत्री उपासना में शरीरगत तप संयम—आत्मसत्ता की विशिष्टता संबंधी ध्यान के उपरांत तीसरी महत्त्वपूर्ण बात रह जाती है—अंतःकरण की उत्कृष्टता। इसके तीनों ही पक्ष उपासना के अवसर पर प्रयुक्त होने वाली भाव-संवेदनाओं के माध्यम से पूरे होते हैं। नारी तत्त्व के प्रति पवित्रता की श्रेष्ठता को, आस्थाओं को अंतराल की गहराई तक जमाने के लिए युवा

नारी के रूप में गायत्री माता की प्रतिमा बनी है। आस्थाओं के क्षेत्र में व्यापक भ्रष्टता, कामुकता ही भरी रहती है। चिंतन क्षेत्र में मर्यादाओं का सबसे अधिक उल्लंघन इसी क्षेत्र में होता है। युवा नारी की प्रतिमा में पवित्रतम भाव-बुद्धि की स्थापना का अर्थ है—चिंतन क्षेत्र की अभ्यस्त भ्रष्टता के उलट देने का अभ्यास करना। यह अभ्यास इसलिए कराया जाता है कि नारी मात्र के प्रति दृष्टिकोण में पवित्रता की आस्थाएँ परिपक्व हो सकें। इस कठिन मोर्चे को जीतने के उपरांत अन्यान्य आदर्शवादी आस्थाओं की अंतराल में प्रतिष्ठापना होते चलना अति सरल हो जाता है। भाव-संवेदनाओं की दृष्टि से माता का वात्सल्य ही सर्वोपरि है। प्रेम की उससे ऊँची उत्कृष्टता अन्य किसी मानवी संबंध में देखी नहीं जा सकती। गायत्री माता के प्रति भक्ति भाव के गहरे संबंध स्थापित करने के प्रयास में उसके वात्सल्य की अनुभूति का रसास्वादन करना होता है, अपने ऊपर बरसने वाले वात्सल्य की अनुभूति की जाती है। इसके प्रतिदान में साधक अपनी ओर से कृतज्ञता की अभिव्यक्ति अनेकानेक भाव भरी श्रद्धांजलियों के रूप में समर्पित करता है। उपासना काल की भाव-संवेदन में एक ओर से वात्सल्य की वर्षा—दूसरी ओर से कृतज्ञता भरा आत्म-समर्पण—इन्हीं दोनों का आदान-प्रदान चलता रहता है।

आस्थाओं और संवेदनाओं के उपरांत तीसरा भाव पक्ष है—आकांक्षाओं का सामान्य जीवन पर वासना, तृष्णा और अहंता की त्रिविध महत्त्वाकांक्षाएँ ही छाई रहती हैं और इन्हीं की पूर्ति के लिए चिंतन एवं श्रम को जुटा रहना पड़ता है। साधक जीवन में आकांक्षाओं का स्तर ऊँचा उठाना पड़ता है। उसका केंद्रबिंदु 'राजहंस' होता है। परमहंस स्थिति पूर्णता में होती है। राजहंस बनाने का प्रयास साधना काल में चलाना होता है। राजहंस गायत्री का वाहन है, अर्थात त्रिपदा की घनिष्ठता, समीपता एवं अनुकंपा राजहंस पर लदी रहती है। तात्पर्य यह है कि साधक की आकांक्षाएँ राजहंस स्तर की होनी चाहिए। उस पक्षी के बारे में यह आरोपण है

कि वह मोती खाता है, कीड़े नहीं। दूध पीता है, पानी नहीं। इसमें मात्र उत्कृष्टतावादी आकांक्षाओं को ही अपनाने और निकृष्ट अभिलाषाओं को दृढ़तापूर्वक परित्याग कर देने की दृढ़ता है। मोती ही खाने में चरित्रनिष्ठा का और जल दूध के मिश्रण को अलग कर देना और श्रेष्ठ अंश ही ग्रहण करना विवेकशीलता को अपनाया जाना है। अध्यात्मवादी की आकांक्षाएँ, अभिलाषाएँ इसी वर्ग की होनी चाहिए। उसकी इच्छाएँ आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण के उच्चस्तरीय उद्देश्यों को पूरा कर सकने के लक्ष्य के साथ जुड़ी रहनी चाहिए। नीतिनिष्ठा, परमार्थ-परायणता और विवेकशीलता का समन्वय जिन आकांक्षाओं में हो रहा है, उन्हें राजहंस स्तर की कहना चाहिए। भक्ति-भावना से अंतराल को भर लेने का माहात्म्य समूचे अध्यात्म शास्त्र में भरा पड़ा है। उसे भावोन्माद, भावुकता का आवेश नहीं समझा जाना चाहिए। ऐसे ज्वार-भाटे तो आये दिन चढ़ते-उतरते रहते हैं। उनमें उमंगें और उचंगें ही उछलती-डूबती रहती हैं। इनकी आत्मिक प्रगति में कोई महत्ता या उपयोगिता नहीं है। आस्थाएँ, संवेदनाएँ और आकांक्षाओं की उत्कृष्टता ही 'भक्ति' का वास्तविक स्वरूप है। गायत्री उपासना में इसी भक्ति भावना को उभारने का अभ्यास किया जाता है। साधना काल का यह अभ्यास व्यावहारिक जीवन में उतरता है तो व्यक्तित्व समग्र उत्कृष्टता के रूप में परिलक्षित होता है। तीनों शरीरों व चेतना के तीनों प्रकरणों को क्रमिक विकास के पथ पर तेजी से धकेल देना ही त्रिपदा गायत्री की साधना में प्रयुक्त होने वाले तीन विधि-विधानों का उद्देश्य है। एक शब्द में इस पुण्य-प्रक्रिया को समग्र आत्म-विकास की प्राणवान प्रयत्नशीलता भी कहा जा सकता है।

❐ ❐

व्यक्तित्व के विकास में, गायत्री साधना का उपयोग

❋

गायत्री उपासना का दर्शन और विधान व्यक्तित्व के समग्र विकास की आवश्यकता पूरी करता है। इस प्रक्रिया में ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय है। इस उपक्रम को अपनाने वाला उपासना की अवधि में अपने चिंतन को उच्च स्तर का बनाता है और शरीर को ऐसे कृत्यों में लगाता है, जिनसे आदर्शवादिता की ओर अग्रसर होने की भाव भरी प्रेरणा मिलती है।

न तो मात्र चिंतन ही पूर्ण है न अकेला कर्म ही। दोनों का पृथक-पृथक अस्तित्व तो है और उनसे यत्किंचित प्रतिफल भी प्राप्त होता है, पर वह रहता सर्वथा अपूर्ण एवं एकांगी ही है। बिजली के दोनों तार मिल कर ही प्रवाह पैदा करते हैं, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म का समन्वय ही सत्परिणाम उत्पन्न करता है। गायत्री उपासना में उत्कृष्ट जीवन के लिए अभीष्ट ज्ञान और कर्म का इस प्रकार का समन्वय है कि उसे व्यक्तित्व के विकास का ऐसा समग्र शिक्षण कह सकते हैं, जिसमें चिंतन और कर्मकांड का उपयुक्त संतुलन बहुत ही दूरदर्शिता के साथ मिलाकर रखा गया है।

उपासना काल में साधक का चिंतन सर्वथा अंतर्मुखी रहता है। बाहरी संसार का विचार और कर्म करते-करते ही पूरा समय बीतता है। पूजा पर्व का थोड़ा-सा समय इसके लिए सुरक्षित रखा गया है कि उस अवधि में मात्र अंतर्मुखी चिंतन किया जाये और अंतर्जगत में संबंधित तथ्यों पर ही ध्यान केंद्रित किया जाये। जब तक इसी प्रयोजन में मन लगा रहता है, तब तक साधना में मन लगा समझा जाता है। संतोष मिलता है और सत्परिणाम भी मिलता है किंतु यदि मन थोड़े-से समय में भी भौतिक जीवन का—वाह्य संसार का ही चिंतन करने के लिए दौड़ता रहे तो समझना चाहिए साधना अधूरी रह गई। मनोनिग्रह की आवश्यकता इसीलिए समझी

जाती है कि उस अवधि में जो कुछ सोचा और किया जाय वह आत्मिक क्षेत्र से ही संबंधित हो। जितनी देर ऐसा बन पड़ता है समझा जाता है कि उपासना का उपक्रम ठीक तरह बन पड़ा।

उपासना का पूर्वार्ध (१) स्वाध्याय (२) सत्संग (३) चिंतन (४) मनन है। इनमें आत्म-समीक्षा, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास के संदर्भ में विभिन्न समस्याओं का स्वरूप एवं समाधान का प्रयत्न किया जाता है। इसे साधना का तत्त्वज्ञान एवं दर्शन पक्ष कह सकते हैं। ब्रह्म-विद्या का सारा कलेवर इस प्रशिक्षण की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही खड़ा किया गया है। कथा, प्रवचनों का यही उद्देश्य है।

उपासना का उत्तरार्ध वह है जिसे कर्मकांड उपचार के साथ संपन्न किया जाता है। इसके भी चार चरण हैं—(१) पवित्रीकरण (२) देव पूजन (३) जप (४) ध्यान। प्रायः इन्हीं चार वर्गों में ही साधना विधि-विधान आ जाता है। रुचि भिन्नता और परिस्थिति विशेष के कारण विभिन्न प्रकार के साधन विधान बनते रहे हैं। पर उन सबको यदि वर्गीकृत करना हो, तो चार में उन सबका समावेश हो सकता है।

पवित्रीकरण में पवित्र नदी सरोवरों का स्नान, शरीर शुद्धि, वस्त्र शुद्धि, उपकरण शुद्धि आदि सम्मिलित हैं। पूजा उपचार आरंभ करने से पहले आत्म शोधन के लिए मार्जन, आचमन, प्राणायाम, न्यास, अघमर्षण आदि की क्रियाएँ संपन्न करनी पड़ती हैं।

देव-पूजन में प्रतिमा पूजन, षोडशोपचार, स्तवन, अभिषेक, आरती, परिक्रमा, मंदिर दर्शन, सूर्यार्घदान, कलश स्थापन, दीप स्थापन, हवन आदि कृत्यों को गिना जा सकता है।

जप में मंत्रों के रूप में जाने, जाने वाले शब्द गुच्छकों की रटन, पुनरावृत्ति, कीर्तन, मानसिक जप, सोऽहं का अजपा जप, अखंड पारायण, ग्रंथ पाठ आदि की गणना होती है।

ध्यान में बिंदु योग, लययोग, नादयोग, चक्रवेधन, पंचकोश साधना, प्राणयोग, ऋणयोग, बिंदुयोग आदि वे सभी साधनाएँ आ जाती हैं, जिनमें चिंतन को एक विशिष्ट दिशा धारा में प्रवाहित करना पड़ता है।

इस प्रकार समग्रयोग के आठ अंग हैं। भगवती साधना में दुर्गा की आठ भुजाओं के रूप में शास्त्रकारों ने इन्हीं का निरूपण किया है।

देखना यह है कि इन आठों क्रिया-कृत्यों से किस प्रकार व्यक्तित्व का निखार और उभार संभव होता है। मनुष्य में देवत्व का उदय करने के लिए इन विधि-विधानों का किस प्रकार-किस मर्मस्थल पर क्या प्रभाव पड़ता है ? सामान्य दृष्टि से यह सभी उपचार जादुई लगते हैं और प्रतीत होता है कि इनमें कोई रहस्यमय प्रक्रिया भरी होगी, पर वास्तविकता ऐसी है नहीं। साधना-विधियों को प्रतीक पूजा कहा गया है। इनके क्रिया-कृत्यों में चिंतन और कर्तृत्व को उत्कृष्टता की दिशा में मोड़ने की भाव भरी प्रेरणाओं का समावेश है। इन प्रेरणाओं को जितना व्यावहारिक जीवन में उतारा जाता है, उसी अनुपात से अंतर की दिव्य शक्तियाँ उभरती हैं और उस उभार के अनुरूप, सिद्धियाँ और विभूतियों के चमत्कारी प्रतिफल सामने आते हैं।

पवित्रीकरण के अंतर्गत जल सिंचन, तीन आचमन, न्यास, अघमर्षण, प्राणायाम आते हैं ; इनमें जल, वायु एवं अंग स्पर्श के माध्यम से अंतरंग और बहिरंग की पवित्रता धारण करने के निर्देश हैं। शारीरिक कषाय और मानसिक कल्मष ही आत्मिक प्रगति के प्रमुख अवरोध हैं। उन्हें हटाने, समग्र स्वच्छता अपनाने से अंतरात्मा में भगवान की अनुकंपा एवं दिव्य समर्थता का अवतरण संभव होता है। यह तथ्य समझाने और अपनाने के लिए पवित्रीकरण के पाँचों उपचार हैं।

दूसरा उपचार देव-पूजन है। इसका तात्पर्य है देवत्व की गरिमा को स्वीकार करना और उसके सम्मुख नतमस्तक

होना-पक्षधर बनना। आमतौर से सामान्य जीवन दैत्य उपासक ही रहता है। दैत्य अर्थात् वैभव, सुविधा-साधन, लिप्सा-लालसा का तुष्टीकरण। इन्हीं कुचक्रों में सारा श्रम और मनोयोग खप जाता है। देवत्व की कल्पना भर भले ही होती रहे, पर उसके परिपोषण के लिए कुछ बच ही नहीं पाता। इस पशु-प्रवृत्ति को उलटने का संकल्प ही देव-पूजन है। देवता की प्रतिमाओं के पीछे आदर्श ही आदर्श भरे पड़े हैं। प्रतिमाएँ एक प्रकार की पुस्तकें हैं, जिनकी आकृतियों और प्रकृतियों के समुच्चय से यही बताया गया है कि देवानुयायी का चरित्र और चिंतन कैसा होना चाहिए ?

देव-पूजन में जो उपचार वस्तुएँ काम आती हैं, वे भी सद्गुणों का ही प्रतिनिधित्व करती हैं और उन्हें अपनाने वाले पर देव कृपा बरसने का तथ्य प्रकट करती हैं। जल अर्थात् पवित्रता-तरलता। पुष्प अर्थात कोमलता सुषमा। चंदन अर्थात उदारता, श्रद्धा। दीपक अर्थात परमार्थ परायणता, प्रकाश प्रज्ञा। नैवेद्य अर्थात मधुरता, अंशदान निष्ठा। अर्ध्यदान-श्रेष्ठता के प्रति समर्पण-विसर्जन। देवता के सम्मुख इन उपचारों को पूजा उपकरण के रूप में प्रस्तुत करने का तात्पर्य यह है कि देवता का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए इन सत्प्रवृत्तियों को अपनाने की अनिवार्य शर्त है, जिसे पूरा करने के लिए सतत प्रयत्न किए ही जाने चाहिए।

जप का तात्पर्य है—अनवरत और अथक प्रयास एवं अभ्यास की निरंतर पुनरावृत्ति। आमतौर से एक काम पर से मनुष्य का मन जल्दी ही ऊब जाता है और नवीनता की तलाश होने लगती है। चंचलता की यह वानर वृत्ति महान कार्यों के लिए आवश्यक अध्यवसाय बनने ही नहीं देती। उच्चस्तरीय कार्यों में बाल-क्रीड़ा जैसा कौतुक भी नहीं होता, वे साधारण मनःस्थिति को नीरस ही लगते हैं। इसलिए क्षमता संपन्न व्यक्ति भी कोई महत्त्वपूर्ण कार्य—निरंतर अध्यवसाय न अपना सकने के कारण कर नहीं पाते। आरंभ भी करें तो मन की ऊब वैसा करने नहीं देती। इस मोर्चे को वही जीत सकता है, जिसने मन जीता हो। कहते हैं कि

जो अपने को जीतता है वही दूसरों को, संसार को, जीत पाता है। यहाँ मनोजप की ही चर्चा है। इसका अभ्यास जप के माध्यम से भली प्रकार हो सकता है। एक ही रटन को धैर्यपूर्वक देर तक करते रहने से नवीनता की तलाश के लिए उचक-मचक करने वाली वानर-वृत्ति पर अंकुश लगता है और वह प्रवृत्ति जगती है, जिसके अनुरूप नीरस दीखने वाले महान कार्यों पर धैर्यपूर्वक चित्त-वृत्तियों को जमाये रहा जा सके। यह चित्त-वृत्तियों का निरोध ही महर्षि पातंजलि के अनुसार योग है। योग साधना का प्रथम चरण जप माना गया है, उससे शरीर और मन दोनों को धैर्यपूर्वक अनवरत क्रम से एक ही कार्य को करते रहने का स्वभाव बनता है। महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने के लिए यह अभ्यास नितांत आवश्यक है।

जप के उपरांत दूसरा चरण है ध्यान। शारीरिक गतिविधियों को जप के द्वारा अध्यवसाय रत रहने के लिए प्रशिक्षित अभ्यस्त किया जाता है। इसका अगला चरण है मन-मस्तिष्क। चिंतन को एक केंद्र पर नियोजित किये रहना—एक दिशाधारा में संलग्न रहना—यही है ध्यान धारणा का उद्देश्य। मन में कितनी प्रचंड शक्ति भरी पड़ी है किंतु वह बिखराव से ही अस्त-व्यस्त और नष्ट-भ्रष्ट होती रहती है। यदि एकाग्रता पा सके तो सामान्य स्तर का मनुष्य भी विद्याध्ययन अनुभव संपादन-शोध कार्य-विशिष्ट कला-कौशलों का उपार्जन जैसी चमत्कारी सफलताएँ प्राप्त कर सकता है। एकाग्रता साधने वाले व्यक्ति ही वैज्ञानिक, कलाकार, साहित्यकार, योग निष्णात होते देखे गये हैं। सांसारिक प्रयोजनों में भी महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न करने में एकाग्रता के अभ्यास की ही प्रधान भूमिका रहती है।

अंतर्जगत की विभूतियाँ बाह्य जगत की संपदाओं से भी अधिक मूल्यवान हैं। समष्टिगत भौतिक संपदाएँ जल, थल और आकाश में से निकालनी होती हैं किंतु व्यक्ति को विभूतिवान बना सकने के लिए जिन दिव्य उपलब्धियों की आवश्यकता होती है, उन्हें अपने भीतर ही

खोजा जा सकता है। दृष्टिकोण, मान्यताएँ, आस्थाएँ, इच्छाएँ, आदतें, उमंगें, संवेदनाएँ आदि की भाव-संपदाएँ ही मिलकर व्यक्तित्व को ढालती हैं और उसी आंतरिक-वैभव के आधार पर मनुष्य का बाह्य जीवन ढलता है। पिछड़ेपन और प्रगतिशीलता का उद्‌गम केंद्र अंतःक्षेत्र से ही प्रकट और प्रवाहित होता है। गड़े खजाने की तरह मनुष्य जीवन की वास्तविक और बहुमूल्य संपदाएँ, उसके अंतःक्षेत्र में ही भरी पड़ी हैं। इन्हें जानना, खोदना, उभारना और विकसित परिष्कृत करने का विज्ञान ही ध्यान योग है। ध्यान को अंतर्जगत के अँधेरे में फेंकी जाने वाली सर्चलाइट कहा गया है। उस आधार पर उस दिव्य क्षेत्र की स्थिति को जानना और बिखरी पड़ी दिव्य संपदाओं को बटोर लाना संभव होता है।

आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास का समुच्चय ही आत्मिक प्राप्ति है। उसी मार्ग पर चलते हुए अपूर्णता की पूर्णता में परिणित और लक्ष्य प्राप्ति में सफलता संभव होती है। उस प्रसंग के सारे क्रिया-कलाप अंतर्जगत में ही करने होते हैं और उनके लिए मानसिक एकाग्रता का प्रखर उपयोग ही कारगर सिद्ध होता है। ध्यान के द्वारा यही चेतनात्मक प्रखरता प्राप्त होती है और इसके द्वारा अंतर्जगत में उपयोगी परिवर्तन परिष्कार कर सकना संभव होता है।

गायत्री उपासना का उत्तरार्ध आत्म-शोधन, देव-पूजन, जप और ध्यान है—इन चारों का उपयोग आत्म-निर्माण के लिए क्रिया योग के रूप में किया जाता है। उसे पूर्वार्ध का, स्वाध्याय सत्संग, मनन-चिंतन का पूरक ही माना जाना चाहिए। व्यक्तित्व के समग्र विकास को ही भौतिक और आत्मिक संपदाओं का, ऋद्धि-सिद्धियों का केंद्र माना गया है। उस प्रयोजन की पूर्ति में गायत्री उपासना का तत्त्वज्ञान और विधि-विधान असाधारण रूप से सहायक सिद्ध होता है।

❐ ❐

गायत्री जप और उसकी सामूहिक शक्ति

❋

जप योग की प्रक्रिया आत्म-परिष्कार की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी विज्ञान-संगत और बुद्धि-सम्मत उपाय है। गायत्री उपासना में 'जप' विधान का पक्ष ही सबसे अधिक है। इस धर्मानुष्ठान के अन्य उपचार कृत्यों में तो थोड़ा-सा ही समय लगता है। प्रधानता जप संख्या में लगने वाले समय की ही रहती है।

जप का मोटा रूप है—निर्धारित मंत्र की पुनरावृत्ति। रगड़ने, घिसने, पीसने, माँजने, चीरने आदि की क्रियाओं से पदार्थों की स्थिति को बदलना संभव होता है। इसे पुनरावृत्ति का ही चमत्कार कह सकते हैं।

बर्तन माँजने में उन्हें किसी कड़ी और खुरदरी चीज से रगड़ना पड़ता है। घर में झाड़ू लगानी हो तो झाड़ने की क्रिया में पुनरावृत्ति ही करनी पड़ती है। कपड़े धोने हों तो उन्हें पानी में भिगोकर फचफचाने, पीटने, रगड़ने के रूप में पुनरावृत्ति ही करनी होती है। स्नान करते समय शरीर का मलना-रगड़ना ही स्वच्छता का उद्देश्य पूरा करना है। सफाई के लिए हाथ धोते समय भी यही होता है। जूतों पर पालिस करने से लेकर बालों में कंघी करने तक के साधारण कामों में यही करना होता है।

लकड़ी चीरने में आरी की और धातु काटने में रेती की यही रीति अपनानी पड़ती है। पैरों को पीछे से आगे को निरंतर उठाते चलने पर ही लंबी यात्राएँ संपन्न होती हैं। चंदन घिसने, मेंहदी पीसने में, तेल मालिश में एक ही कृत्य को बार-बार करने का तरीका अपनाया जाता है। आटा गूंथने, रोटी बेलने, दीवारें पोतने, फर्नीचर रंगने जैसे दैनिक कार्यों में पुनरावृत्ति का ही बोलबाला है। एक बार हाथ को इधर से उधर कर देने पर तो उपरोक्त कार्यों में

से एक भी सिद्ध नहीं हो सकता। जप-प्रक्रिया में इसी सिद्धांत को चरितार्थ होते देखा जा सकता है। कड़े पत्थर पर रस्सी की रगड़ पड़ने से उस पर गहरे निशान बन जाते हैं, तो कोई कारण नहीं कठोर दीखने वाली मनोभूमि पर जप जैसे सुसंस्कारी प्रयोगों का उपयोगी सत्परिणाम उत्पन्न न हो सके।

मैल छुड़ाने के लिए जितने भी प्रकार हैं उन सबमें—रगड़ का सिद्धांत सर्वत्र क्रियान्वित होते पाया जायेगा। पालिस का एक तरीका तो चमकदार रसायनों को ऊपर से पोत देना भी होता है, पर दूसरा तरीका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है—रगड़ने का। धातुओं पर सस्ती और अच्छी पालिस उन्हें मात्र रगड़ने भर से पूरी हो जाती है। धातु पालिस की मशीनों में प्रायः घिसने का कार्य होता रहता है। संगमरमर और उसके छोटे टुकड़े का चिप्स लगाकर मकान बनाये जाते हैं और पत्थर में चिकनाई की सुगढ़ता बढ़ाने के लिए उसकी रगड़ाई, घिसाई पर मशीनों या मजदूरों को लगाया जाता है। यह रगड़ने की पुनरावृत्ति के ही चमत्कार हैं। जप-साधना में शरीर और मन के दिव्य-संस्थानों को खोद निकालने में भी यही सब होता रहता है। कुँआ खोदने में बार-बार फावड़े चलते हैं। छैनी और हथौड़ी का कार्य भी लगातार ही चलता है, उसके बीच में तनिक-सा विश्राम भर रहता है। ऐसा तो हृदय की धड़कन और फेंफड़े के श्वास-प्रश्वास क्रमशः लगातार चलते रहने पर भी बीच-बीच में तनिक-सा विराम होता रहता है। मांस पेशियों का आकुंचन-प्रकुंचन-रक्त का दौड़ना-लौटना यह सब भी अनवरत क्रम से चलते हैं। घड़ी के पेंडुलम क्रम की तरह ही शरीर की सारी मशीन पुनरावृत्ति क्रम से उत्पन्न होने वाली शक्ति द्वारा ही परिचालित होती है। जीवन धारण में आंतरिक अवयवों की निरंतर गतिशीलता पुनरावृत्ति के रूप में ही देखी जा सकती है।

रगड़ने की तरह ही दूसरी क्रिया गतिचक्र की है। उससे भी शक्ति उत्पन्न होती है। मशीनों का चक्कर घूमता है तो उनमें अपने-अपने ढंग की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। बिजली की मोटरें तेल

के इंजन सभी की संरचना गोलाई वाली गति उत्पन्न करने की हैं। इस गतिशीलता में भी गोलाई स्तर की पुनरावृत्ति ही होती है। ग्रह-नक्षत्र अपनी कक्षाओं में अनवरत गति से दौड़ते और अपने अयन-कक्ष में परिक्रमा करते हैं। इसी से उनमें आकर्षण शक्ति उत्पन्न होती है और उसी के सहारे वे अन्य ग्रह-नक्षत्रों से संबंध सूत्र बनाकर अधर में लटके रहते हैं, परिक्रमण की शक्ति एवं चुंबकीय क्षमता प्राप्त करते हैं, उसके बिना उनकी स्थिरता ही संदिग्ध हो जायेगी।

गोलाई में परिभ्रमण करना समस्त वाहनों में लगे रहने वाले पहियों की चमत्कारी उपलब्धि है। इसके बिना परिवहन और यातायात में काम आने वाले किसी भी यंत्र का कार्य चल नहीं सकता। धकेल गाड़ी से लेकर रेलगाड़ी तक की सभी मशीनें चक्कर घूमने पर ही चलती हैं। आगे-पीछे वाली रगड़ की तरह गोलाई वाली अग्रगामी गति भी शक्ति उत्पन्न करती है। उसे हर कोई जानता है। मंत्र जप में शब्द क्रम की पुनरावृत्ति भी होती है और उसका अनवरत क्रम गोलाई वाली गति भी बना देता है फलतः उस उपाय उपचार से दुहरा लाभ होता है। इस लाभ से मनुष्य को अपने प्रकट और अप्रकट शक्ति-संस्थानों को प्रखर बनाने में असाधारण सहायता मिलती है।

बिजली का पंखा जब तेजी से घूमता है, तो उसका एक चक्र बन जाता है, लट्टू घूमता है तो वह खड़ा जैसा घूमता है। जलती बारूद के खिलौने जब तेजी से घूमते हैं, तो भी देखने में गोल चक्र जैसा दीखते हैं। पक्षी उड़ाने की 'गोफन' भी जब तेजी से घुमाई जाती है तो लगता है कोई बड़ा पहिया घूम रहा हो। एक कक्षा में अनवरत गति का चलते रहना गति चक्र बनाता और उससे वही सब काम संपन्न हो सकते हैं, जो गोलाई में घूमने वाली मशीनों द्वारा संभव होते हैं। भगवान कृष्ण का चक्र सुदर्शन असाधारण शक्तिशाली था, पर गति न होने पर तो वह भी एक साधारण-सा धार दार पहिया बनकर कहीं पड़ा रहता होगा। गति की तीव्रता से

एक शक्तिशाली स्वतंत्र इकाई बनकर खड़ी हो जाती है। उसके मध्यवर्ती विरामों का पता भी नहीं चलता। ऊपर से बरसने वाली बूँदें एक छड़ की तरह खड़ी दिखाई देती हैं यद्यपि वे वस्तुतः अलग-अलग ही होती हैं। मंत्र जप में चलने वाली शब्दों की क्रमबद्ध गतिशीलता न केवल रगड़ का प्रयोजन पूरा करती है वरन् उससे गोलाई जैसी गति भी बनती है और सामर्थ्य का उपयोग व्यक्तित्व की विभिन्न परतों को समुचित एवं परिष्कृत करने के काम आता है। जपकर्ता अनेक लाभों से लाभान्वित होते हैं, इसके पीछे पुनरावृत्ति के कारण उत्पन्न हुई रगड़ एवं गोलाई दोनों ही शक्ति संधान का काम करते हैं।

पदार्थ विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि समस्त ऊर्जा स्रोतों के अंतराल में ताप की तरह ही शब्द शक्ति का भी बहुत ऊँचा स्थान है। दोनों की तरंगें होती तो भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं, पर उनकी समर्थता किसी से किसी की कम नहीं। बिजली, भाप, तेल, कोयला आदि के ईंधनों के माध्यम से प्रकट होने वाली शक्ति के पीछे जो शक्ति तरंगें काम करती हैं, उनमें ताप की तरह समय-समय पर शब्द की शक्ति भी अपनी प्रचंडता का परिचय देती देखी गई हैं। किसका उपयोग अधिक होता है किसका कम प्रश्न यह नहीं, वरन् यह है कि क्षमता की दृष्टि से दोनों के स्तर में अंतर तो नहीं है। इस दृष्टि से विश्व के अंतराल में काम करने वाली, समर्थ तरंगें, शब्द शक्ति अपनी सहेलियों में किसी से हलकी नहीं पड़तीं।

शब्द के साथ चेतना का समावेश हो जाने से उसका स्तर भौतिक क्षेत्र की सामान्य शब्द-तरंगों की अपेक्षा अत्यधिक सामर्थ्यवान बन जाता है। फिर उसमें साधक की आस्थाएँ, तपश्चर्याएँ भी अपना योगदान करती हैं। मंत्र जप द्वारा उत्पन्न की गई शब्द सामर्थ्य में और भी उच्चस्तरीय धाराएँ जुड़ जाती हैं, फलतः उनका स्तर इतना ऊँचा उठ जाता है, जिसके प्रभाव को

देखते हुए उसे अद्‌भुत एवं चमत्कारी कहने में कोई संकोच नहीं रह जाता।

मंत्रों में गायत्री मंत्र सर्वोपरि है। उसकी शब्द रचना में अक्षरों का गुंथन-ध्वनि विज्ञान के रहस्यमय सिद्धांतों के आधार पर विनिर्मित किया गया लगता है। अर्थ की दृष्टि से इन २४ अक्षरों में दिव्य चेतना से ऋतंभरा प्रज्ञा का अंतःचेतना में अवतरण संभव करने के लिए आग्रह अनुरोध भर किया गया है। यह स्तवन अनुरोध श्रुति साहित्य के अन्य छंदों में भी मौजूद है। गायत्री की विशिष्टता अर्थ की दृष्टि से अनुपम नहीं कही जा सकती, पर उसका ध्वनि-गुंथन ऐसा है, जिससे उसकी जप-प्रक्रिया असाधारण स्तर के ध्वनि-प्रवाह उत्पन्न करती है। उसके रात्परिणाम न केवल जपकर्ता को मिलते हैं, वरन् वह उन लाभों को अन्यों के लिए स्थानांतरित कर सकता है। इस जप-प्रवाह की प्रक्रिया का समूचे वातावरण पर उपयोगी प्रभाव पड़ने से उसका लाभ समस्त संसार को, मनुष्यों एवं अन्यान्य प्राणियों को, भी मिलता है।

संपदा, विद्या, बलिष्ठता आदि शक्तियों के बदले जिस प्रकार भौतिक सुविधा-साधन खरीदे जाते हैं, उसी प्रकार आत्म शक्ति के द्वारा सूक्ष्म जगत और स्थूल जगत की अनेकों शक्तियों के जगने एवं काम में लाने की परिस्थिति बनती है। आत्मशक्ति के उत्पादन अभिवर्धन में सहायक यों और भी कई प्रकार के साधन हैं, पर उन सबमें सरल तथा प्रभावी उपाय मंत्र जप का है। उसे समग्र विधि-विधान से, योगाभ्यास एवं तपश्चर्या के सहयोग से किया जा सके तो इसकी प्रतिक्रिया चमत्कारी होती है। उससे आत्म-शक्ति का उत्पादन प्रचुर मात्रा में होता है। यही बढ़ी-चढ़ी आत्म-शक्ति की मात्रा साधक को सिद्ध पुरुष बनाती है और उसके द्वारा अन्य अनेकों पिछड़े हुए, आगे बढ़ने का, संत्रस्त और संतप्त संकट से उबरने का, अभावग्रस्त सुसंपन्न बनने का लाभ उठाते हैं।

एक ही उपक्रम अनेक स्थानों पर बड़े परिमाण में चलता है तो उसका संयुक्त उपार्जन सारे वातावरण को प्रभावित करता है।

बड़े नगरों में घर-घर चूल्हे जलते हैं फलतः उस क्षेत्र में गर्मी अधिक मात्रा में बढ़ी पाई जाती है। औद्योगिक नगरों में जगह-जगह चिमनियाँ जलती हैं, फलतः सबका मिला-जुला धुआँ उस सारे इलाके पर धुंध छाये रखता है। यह प्रदूषण के बुरे उदाहरण हुए। जहाँ पुष्पों की खेती होती है—चंदन जैसे सुगंधित उद्यान लगे होते हैं, वह सारा क्षेत्र सुवास से महँकता रहता है। यह एक अच्छे उदाहरण हुए। गायत्री जप अनेकों द्वारा—अनेक स्थानों पर किये जाने लगे तो उससे उत्पन्न अध्यात्म ऊर्जा उस क्षेत्र के व्यक्तियों की मनःस्थिति एवं परिस्थिति को प्रभावित करती है। संयुक्त साधना के फलस्वरूप दूर-दूर तक का वातावरण सत्प्रवृत्तियों से भरता है और सुख-शांति की संभावना बढ़ाती है।

सामूहिक गायत्री अनुष्ठानों का और भी अधिक पुण्य फल माना गया है। लाभ तो एकाकी—पृथक-पृथक प्रयत्नों का भी है, पर संयुक्त प्रयासों के परिणाम तो और भी अद्‌भुत होते हैं। सींकें अलग-अलग रहना और उनकी एक बुहारी बँधने, धागे अलग-अलग रहना और उनका इकट्ठा रस्सा बटने—बूँदों का अलग बिखरना और एक तालाब में जमा होने में कितना अंतर होता है, इसे हर कोई सहज बुद्धि से जान सकता है। गायत्री उपासकों का एक संकल्प के अंतर्गत एक संगठन सूत्र में बँधकर संयुक्त साधना का उपक्रम करना हर दृष्टि से हर किसी के लिए कहीं अधिक श्रेयस्कर सिद्ध होता है। गायत्री परिवार के तत्वावधान में लाखों साधकों द्वारा-दिव्य मार्ग दर्शन के अंतर्गत—संयुक्त साधना संकल्प का जो उपक्रम इन दिनों चल रहा है, उससे आत्म-शक्ति का प्रचंड शक्ति समुच्चय होना प्रत्यक्ष है। इसी संयुक्त साधना शक्ति की महाकाली को महाकाल द्वारा इन दिनों नव-निर्माण के लिए—युग-निर्माण के लिए—प्रयुक्त किया जा रहा है। उसके सत्परिणामों की अपेक्षा आशा और विश्वासपूर्वक की जा सकती है। इन प्रयासों से उज्ज्वल भविष्य की संरचना में महत्त्वपूर्ण योगदान मिलना निश्चित है।

❐ ❐

युगशक्ति का अवतरण और प्रसार विस्तार

❋

गायत्री को युग शक्ति के रूप में अवतरित होते हुए हम सब प्रत्यक्ष देखते हैं। लगता है युग-परिवर्तन की आवश्यकता पूरी करने के लिए वह अपनी निरंतर शाश्वत परंपरा को यथावत बनाये रहकर भी समय की आवश्यकता पूरी करने वाली कार्य-पद्धति अपना रही है।

भगवान को परिस्थितियों के अनुसार अपने अवतारों के स्वरूप और क्रिया-कलाप में हेर-फेर करना पड़ा है। हिरण्याक्ष जब धरती की संपदा चुराकर समुद्र में जा छिपा था, तो वाराह रूप बनाने की आवश्यकता पड़ी ताकि उस दस्यु की स्थिति का सामना करना पड़ा। समुद्र-मंथन का प्रयोजन पूरा करने के लिए कच्छप का रूप करना ही उपयुक्त था। हिरण्यकश्यपु को वरदान था कि वह मनुष्य या पशु में से किसी के द्वारा न मारा जा सकेगा, तो आधा पशु और आधा मनुष्य का विचित्र स्वरूप बनाकर नृसिंह आये और अस्त्र-शस्त्र से न मरने के उसके वरदान को निरस्त करने के लिए नाखूनों को हथियार बनाया। आततायियों से जूझने के लिए परशुराम-मर्यादाओं को स्थापित करने के लिए राम योग का कर्म प्रधान रूप प्रस्तुत करने के लिए कृष्ण और बौद्धिक क्रांति के उद्‌गाता बुद्ध के रूप में अवतरणों की शृंखला का पर्यवेक्षण करने से पता चलता है कि अवतरण प्रक्रिया में जड़ पुनरावृत्ति नहीं है। वरन् आवश्यकतानुसार गतिविधियाँ अपनाने का लचीलापन है। अधर्म का विनाश और धर्म की स्थापना का संतुलन लक्ष्य में ही स्थापित है। लीला प्रकरण तो परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहना उचित भी है और आवश्यक भी।

आज की असुरता का स्वरूप पूर्वकालीन घटनाक्रमों से सर्वथा भिन्न है। भूतकाल में असुरता सीधे आक्रमण करती रही है और

उसे शस्त्र युद्ध से पराजित किया जाता रहा है। अबकी बार उसने छद्म नीति अपनाई है और जन-मानस पर अनास्था के रूप में अपना आधिपत्य जमाया है। अनास्था का मोटा अर्थ तो नास्तिकता होता है, पर उसे ईश्वर को न मानने तक सीमित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः नास्तिकता का स्वरूप है आदर्शों और मर्यादाओं की अवज्ञा। नीतिनिष्ठा और समाजनिष्ठा का उल्लंघन। मानवी गरिमा की विस्मृति। संक्षेप में इसे उच्चस्तरीय आस्थाओं का ऐसा अभाव कह सकते हैं, जिसके कारण आचरण में निकृष्टता की मात्रा बढ़ती ही चली जाती है। आज के संकट का यही स्वरूप है। इसे आस्थाओं का दुर्भिक्ष कह सकते हैं। उत्कृष्टता के प्रति श्रद्धा की प्रौढ़ता ही अंतःकरण में सद्भाव, मस्तिष्क में सद्ज्ञान और शरीर में सत्कर्म बनकर उभरती है। यदि आस्थाओं में निकृष्टतावादी तत्त्व घुस पड़ें तो फिर हर क्षेत्र में विकृतियाँ ही भर जाएँगी। आकांक्षाओं का स्तर वैसा होगा जैसा पशुओं और पिशाचों का होता है। विचारणा वैसी उठेगी जैसी कुचक्रियों और अपराधियों में पाई जाती है। कर्म ऐसे बन पड़ेंगे जो पतित और पराजितों से बन पड़ते हैं। आज की समस्त समस्याओं का स्वरूप समझना है, गहराई में उतरकर एक ही तथ्य सामने आता है—आस्थाओं का संकट। सड़ी कीचड़ों से जिस प्रकार चित्र-विचित्र कृमि-कीटक उत्पन्न होते हैं—उसी प्रकार व्यक्ति और समाज के सामने इसी कारण अगणित समस्याएँ और विपत्तियाँ आतीं और आँख-मिचौली खेलती हैं।

आस्थाओं के क्षेत्र का युद्ध उसी क्षेत्र में लड़ा जायेगा। वायुयानों की लड़ाई आकाश में, पनडुब्बियों की लड़ाई समुद्र में लड़ी जाती है। थल की लड़ाई में पैदलों और वाहनों का उपयोग होता है। आस्थाओं के क्षेत्र में घुसी असुरता से जूझने के लिए युग अवतार को भी तद्नुसार योजना बनानी और कार्य-पद्धति अपनानी पड़ रही है, युगशक्ति गायत्री का कार्य-क्षेत्र आस्थाओं का परिशोधन है। इसी को जन-मानस का परिष्कार कहा गया है। विचार-क्रांति की लाल मशाल में इसी तत्त्वदर्शन की झाँकी होती है।

ज्ञान-यज्ञ का स्वरूप भी यही है। युगांतरीय चेतना का अवतरण इन दिनों इन्हीं आधारों के सहारे होता है। समस्त भूमंडल में बसे हुए मानव समाज के अंतराल में अनास्था के असुर का साम्राज्य छाया दीखता है। शासक का स्वरूप क्षेत्रों की परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का होने पर भी आस्था संकट का कुहासा सर्वत्र छाया हुआ है। उसकी सघनता में जहाँ-तहाँ न्यूनाधिकता भले ही रह रही है। अतएव परिष्कार का क्षेत्र भी अति व्यापक है। यह धर्म युद्ध, सचमुच ही धर्म क्षेत्र में, अंतःकरण में गहराई में उतरकर लड़ा जाना है। इसी के सरंजाम सर्वत्र खड़े होते दिखाई पड़ रहे हैं, अवतरण चेतना इसी के साँचे और ढाँचे खड़े करने में लगी हुई है। शिल्पी इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रयोजन पूरे करने में इन दिनों जुटे हुए देखे जा सकते हैं। जागृत आत्माओं की गतिविधियाँ इसी एक दिशा में चलती दीख पड़ती हैं।

गायत्री महाशक्ति का उपयोग सामान्य समय में उपासना, आराधना द्वारा आत्म-कल्याण का प्रयोजन पूरा करने, प्रसुप्त शक्तियों को जगाकर बढ़े हुए आत्म-बल का लाभ ऋद्धि-सिद्धियों के रूप में लेने जैसा रहता है किंतु युग क्रांति में स्वभावतः उसका कार्य क्षेत्र बढ़ेगा। अभीष्ट प्रखरता और प्रचंडता उत्पन्न करने वाले विशिष्ट क्रिया-कलापों का निर्धारण होगा। वैसा ही इन दिनों हो भी रहा है।

इस संदर्भ में गायत्री तत्त्व-ज्ञान की जानकारी जन-जन को कराया जाना प्रथम चरण है। इसी आधार पर उसकी आवश्यकता, उपयोगिता, क्षमता एवं गरिमा को समझ सकना संभव होगा। उपासना के रूप में उसे ठीक तरह अपनाये जाने की बात तो इसके बाद ही बनती है। समुचित जानकारी के अभाव में थोपी गई उपासना में न तो आस्था उत्पन्न होगी और न उसे तन्मयता, तत्परता के साथ अपनाया ही जा सकेगा। जादुई लाभ बताकर तो कुछ समय के लिए किसी को ललचाया भर जा सकता है, पर हथेली पर सरसों न जमने से उस बल-उत्साह को पानी के बबूले

की तरह फूटने में भी देर नहीं लगेगी। स्थायित्व तो तथ्य को ठीक तरह समझने के बाद ही आ सकता है। युगशक्ति गायत्री का तत्त्व-ज्ञान जन-जन को समझाया जाना चाहिए और हर किसी की समझ में यह आना चाहिए कि समस्त समस्याओं का अत्यांतिक हल वही है, जो गायत्री मंत्र के बीजाक्षरों में कूट-कूटकर भरा हुआ है।

इस प्रचारात्मक प्रथम चरण की पूर्ति इन दिनों लेखनी और वाणी के माध्यम से हो रही है। उसकी गतिशीलता निरंतर बढ़ती जा रही है। उस आलोक से व्यापक क्षेत्र को प्रकाशित होने का अवसर मिल रहा है। नगण्य से व्यक्ति इस संदर्भ में कितनी बड़ी सफलताएँ प्राप्त कर रहे हैं, उसे देखकर ग्वाल-बालों का गोवर्धन उठाना और रीछ-वानरों का समुद्र पुल बाँधना स्मरण हो आता है। ऐसी चमत्कारी सफलताओं में निश्चित रूप से दैवी इच्छा और सहायता का ही परोक्ष योगदान काम करता रहा है।

गायत्री उपासना में सामूहिकता का समावेश अपने युग की नवीनता और विशेषता है। सामान्य काल में उसे नित्य नियम के रूप में अथवा विशेष योगाभ्यास के रूप में उसे अपनाया जाता है। यह व्यक्तिगत प्रयोग हुआ। इन दिनों उसमें सामूहिकता का नया प्रयास जुड़ गया है। गायत्री परिवार की संगठन और उसके तत्त्वावधान—मार्ग दर्शन में चल रही एकरूपता ही नहीं एकात्मता भी जुट रही है। बिखरे हुए मणि-माणिक एक धागे में पिरोकर बहुमूल्य हार बनने जैसा ही यह प्रयोजन है। संघ शक्ति का सामूहिक प्रयासों का महत्त्व जिन्हें विदित है, वे जानते हैं कि इस स्तर के प्रयत्न कितने बहुमूल्य सत्परिणाम प्रस्तुत करते हैं। देवताओं की संयुक्त शक्ति से दुर्गावरण की, ऋषि रक्त के संचय से सीता जन्मने की, समुद्र-मंथन की कथाएँ जिन्हें विदित हैं, वे जानते हैं कि सदुद्देश्य के लिए मिल-जुलकर किये गये काम कितने प्रभावी होते हैं। यों दुष्ट प्रयोजनों में भी 'गिरोह' बहुत हद तक—बहुत दिनों तक सफल होते रहते हैं।

गायत्री परिवार द्वारा गायत्री तत्त्व ज्ञान का शिक्षण और उपासना क्रम का अवधारण कराने के लिए व्यक्तिगत क्षेत्र में भी भारी काम किया है और सफलता पाई है। पर उसका उल्लेखनीय प्रयास इस संदर्भ की सामूहिक गतिविधियों के रूप में ही किया जा सकता है। साधना स्वर्ण जयंती वर्ष में एक लाख नैष्ठिक साधकों ने एक वर्ष की संकल्पित साधना में २४०० करोड़ गायत्री जप संपन्न किये। उसके अनेकों ज्ञात और अविज्ञात सत्परिणाम सामने आये। इनमें से बंगला देश की विजय और आपत्तिकालीन स्थिति का अंत जैसी कई घटनाओं का नाम प्रायः लिया जाता है। गायत्री यज्ञों के आयोजन जहाँ भी होते हैं, वहाँ पहले सामूहिक गायत्री पुरश्चरणों के संकल्प लेने और निर्धारित संख्या पूरी करने की व्यवस्था की जाती है। आहुतियाँ इसके बाद पड़ती हैं। सामूहिक जपों की सुनियंत्रित प्रक्रिया उस परिवार के समस्त सदस्य प्रायः एकरूपता के अनुसार ही चलाते हैं। मथुरा के शतकुंडी—सहस्र कुंडी यज्ञों के अवसर पर भी ऐसे ही करोड़ों की संख्या में सामूहिक जप संपन्न होते रहे हैं। इस प्रक्रिया के आधार पर प्रत्येक उपासक को सामूहिकता का वैसा ही लाभ मिलता है जैसा कि सेना का हर सदस्य गौरवान्वित होता है। सिपाही अलग-अलग छितराते रहें तो उनकी क्षमता नगण्य ही बनी रहेगी। सामूहिक जप अनुष्ठानों का प्रभाव जन-मानस को परिष्कृत करने के लिए सूक्ष्म रूप में अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होता है और उससे समग्र वातावरण को विश्व-शांति के अनुकूल बनाने में भी भारी सहायता मिलती है।

युगशक्ति गायत्री का व्यक्ति निर्माण की दृष्टि से चल रहे प्रयत्न की अपनी महत्ता है। उसमें सामूहिकता का समावेश हो जाने से सूक्ष्म जगत में ऐसी परिस्थितियाँ बनती हैं, जिससे व्यक्ति और समाज के समान रूप से लाभान्वित होने का अवसर मिले। अवतरण प्रक्रिया का तीसरा चरण है—परिवार क्षेत्र में प्रवेश और परिष्कार। इस दिशा में इन दिनों विशिष्ट प्रयत्न चल रहे हैं और

उन्हें क्रमबद्ध सुनियोजित किया जा रहा है। गायत्री परिवार के सदस्यों के घरों में यह प्रयास इन्हीं दिनों आरंभ किया गया है कि उनके यहाँ पूजा कक्ष की विधिवत प्रतिष्ठापना रहे और परिवार का प्रत्येक सदस्य कम से कम पाँच मिनट नमन-वंदन की अभ्यर्थना का नियम निबाहें, काम पर लगने, भोजन करने से पूर्व यह न्यूनतम अभिवंदन कृत्य कर लेने के लिए छोटे-बड़े सभी को समझाया-मनाया जाए। इतना बन पड़ने के उपरांत घरों में सामूहिक आरती, प्रार्थना, सहगान का प्रातः सायं या एक बार का क्रम चलाया जाय। रात्रि को कथा, कहानियों के कहने-सुनने की नियमित व्यवस्था बनाई जाय।

परिवार में आस्थाओं के आरोपण और अभिवर्धन की यह प्राचीन परंपरा को पुनर्जीवित करने वाला अभिनव प्रयास है। परिवारों में भोजन, वस्त्र, चिकित्सा, शिक्षा, मनोरंजन, सज्जा, आतिथ्य, उत्सव आदि की आवश्यकताओं को पूरा करने का तो ध्यान रहता है, पर यह भुला दिया जाता है कि इस समुदाय में आस्थाओं की उत्कृष्टता भी आवश्यक है। घरों में गायत्री माता की प्रतीक स्थापना-अभ्यर्थना के क्रिया-कृत्यों की उपरोक्त प्रक्रिया इस आवश्यकता को पूरा करती हैं। इन कृत्यों की दार्शनिक विवेचना करने के नाम पर आध्यात्मिकता के वे समस्त सिद्धांत भली प्रकार समझाये जा सकते हैं, जो गायत्री अभियान में सन्निहित हैं। इस प्रकार परिवार का आस्थापरक निर्माण इन उपक्रमों के साथ-साथ चलते रहने से ज्ञान और कर्म के समन्वय की विधा बन जाती है और उसके दूरगामी परिणाम उत्पन्न होते हैं।

इसी संदर्भ का एक और उपचार है कि चौके से भोजन परोसना आरंभ करने से पूर्व बने हुए आहार की पाँच आहुति चूल्हे की अग्नि पर हवन कर दी जाएँ। गायत्री मंत्र के साथ दी हुई इन आहुतियों में दो मिनट का समय और एक छदाम का सामान खर्च होता है। भौतिक दृष्टि से उसका कुछ भी मूल्य नहीं, पर तत्त्व दर्शन और प्रेरणा की दृष्टि से यह भी समझने और समझाने की

दृष्टि से बहुत बड़ा आधार है। यज्ञ, भाव जगत का उच्चस्तरीय विज्ञान है। उसमें जीवन को यज्ञमय बनाने और समाज में यज्ञीय परंपराएँ अपनाये जाने की प्रेरणा है। इस उपक्रम को दैनिक जीवन में स्थान मिलता रहे, उसे आहार से भी अधिक प्राथमिकता मिलती रहे, यह प्रशिक्षण समय-समय पर पूरे परिवार को दिया जाता रहे, उस प्रचलन का प्रतीक इस दैनिक यज्ञ को माना जाता रहे। भारतीय संस्कृति में दैनिक नित्य नियम से संध्या-वंदन की तरह ही पाँच यज्ञों का विधान है। इनमें पाँच पारिवारिक कर्त्तव्यों के परिपालन का उद्‌बोधन है। उस प्राचीन नित्य कर्म का संक्षिप्त यह हो सकता है कि चूल्हे की अग्नि पर पाँच छोटे-छोटे अन्न ग्रासों का हवन किया जाता रहे। हर व्यक्ति यज्ञ भगवान का भोग प्रसाद-यज्ञावशिष्ठ ग्रहण करे और उस धर्म भावना को हृदयंगम करे जिसमें यज्ञ से बचा हुआ ही खाने का, सत्प्रयोजन को उपयोग से भी पहले प्राथमिकता देने का, प्रतिपादन किया गया है। गायत्री संस्कृति की जननी और यज्ञ को धर्म पिता कहा गया है। दोनों का प्रतीक पूजन हर घर में चलते रहना चाहिए, इससे युगशक्ति गायत्री का कार्य क्षेत्र हर परिवार में विस्तृत होता है और परिवार संस्था में आदर्शवादिता के तत्त्व-दर्शन को जड़ जमाने का अवसर मिलता है।

परिवार निर्माण में आस्थाओं का आरोपण अति महत्त्वपूर्ण अंश माना जाना चाहिए। इसके लिए परिवार के हर सदस्य का जन्म-दिवस मनाये जाने की परंपरा चलाई जा रही है। उस अवसर पर हर्षोत्सव रूप में छोटा-सा गायत्री यज्ञ तो अनिवार्य रूप से होता है। साथ ही मनुष्य जीवन का गौरव, उत्तरदायित्व, लक्ष्य और सदुपयोग समझाने के लिए प्रवचन परामर्श रूप से वह सब कुछ कहा जा सकता है, जो उत्कृष्टता को जीवन-क्रम में समावेश कराने के लिए कहा जाना आवश्यक है। यह आयोजन पारिवारिक भी है और वैयक्तिक भी। इसलिए उसमें व्यक्ति निर्माण और परिवार-निर्माण के सभी आधार सम्मिलित समझे जा सकते हैं।

जिसका जन्म-दिन मानता है उसे न्यूनतम एक सद्गुण बढ़ाने और एक दुर्गुण घटाने की भी प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। इसमें धर्म की स्थापना और अधर्म के उन्मूलन वाला अवतरण उद्देश्य झाँकता देखा जा सकता है। षोडश संस्कार और पर्व त्यौहार मनाने की प्रक्रिया को भी यदि गायत्री अभियान से जोड़ लिया जाए तो उसमें व्यक्ति और परिवार को समुन्नत-सुसंस्कृत बनाने के समस्त सूत्र बीज रूप से विद्यमान देखे जा सकते हैं। उन्हें विकसित किया जा सके तो कल्पवृक्ष जैसे सज्जनों से हर परिवार भरा-पूरा दीखेगा और वह उद्यान स्वर्ग लोक के चंदन वन की तुलना करेगा।

युगशक्ति गायत्री का व्यापक विस्तार गायत्री यज्ञों के माध्यम से होता है। उसमें विज्ञान सम्मत और भाव-संगत ऐसे तथ्य भरे पड़े हैं, जो जन-समाज की भौतिक और आत्मिक प्रगति में असाधारण रूप से सहायक होते हैं। गायत्री उत्कृष्ट चिंतन की अधिष्ठात्री है और यह आदर्श कर्तृत्व का अधिष्ठाता। दोनों के समन्वय से ऐसा वातावरण बनता है जो व्यक्ति और समाज दोनों के ही लिए परम श्रेयस्कर सिद्ध हो सके। गायत्री परिवार द्वारा युग शक्ति गायत्री के अवतरण का आलोक व्यापक बनाने के लिए इन दिनों इन्हीं उपायों का अवलंबन लिया गया है। निकट भविष्य में और भी महत्त्वपूर्ण उपचार हाथ में लिए जायेंगे। गायत्री विद्या का उच्चस्तरीय शिक्षण, प्रयोग और अन्वेषण करने के लिए 'ब्रह्मवर्चस्' आरण्यक की प्रयोगशाला ऐसे आधार खड़े कर रही है, जिससे युग अवतरण के लिए अभीष्ट शक्ति प्रचुर परिमाण में जुटाई जा सके।

❐ ❐

गायत्री ही गुरु मंत्र है

❋

गुरु मंत्र का सम्मान भारतीय धर्म में मात्र गायत्री को ही मिलता है।

गुरु तत्त्व के द्वारा मिलने वाली श्रद्धा और प्रेरणा का, भाव संवेदना एवं अनुशासन की उत्कृष्टता का, जो प्रकाश मिलता है वह बीज रूप से गायत्री मंत्र में विद्यमान है। इसकी शब्द शृंखला में २४ अक्षरों के मणिमुक्तक गुथे हुए हैं। उनमें से प्रत्येक में अपने-अपने ढंग का शक्ति तत्त्व वर्चस भरा पड़ा है। साधना द्वारा इस पक्ष को विकसित करने वाला सर्व समर्थ बन सकता है। इन्हीं अक्षरों में वह आलोक भी विद्यमान है, जिसका अनुगमन करते हुए जीवन रथ आत्मिक प्रगति के मार्ग पर सुनिश्चित गति से चलता रह सकता है। महामानव, ऋषिकल्प, देव वर्ग की त्रिविध कक्षाओं को उत्तीर्ण करता हुआ पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

गायत्री में प्रज्ञा और प्रखरता के दोनों तत्त्व भरे होने से उसे 'ब्रह्मवर्चस' कहा गया है। ब्रह्मवर्चस की सृजनात्मक शक्ति को ब्रह्मविद्या कहते हैं और ध्वंसात्मक शक्ति को ब्रह्मास्त्र। परशुराम का फरसा, राम का धनुष, कृष्ण का चक्र, शिव का त्रिशूल, दुर्गा का खड्ग—प्रकारांतर से ब्रह्मास्त्र ही हैं। ऋषियों की शाप शक्ति यही है। दधीचि की अस्थियों से बना ब्रह्म वज्र तत्कालीन वृत्तासुरी सत्ता का ध्वंस करने में अमोघ सिद्ध हुआ था। उसी के सहारे देव संकट टला और असुरता का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो सका।

ऋषि रक्त का संचय घड़े में भरने के रूप में किया गया, नियोजन ब्रह्मास्त्र का ही उपक्रम था। सीता उसी से जन्मी और रावण परिकर के विनाश की भूमिका प्रस्तुत करने में समर्थ सिद्ध हुई। अनुसूइया के अभिशाप से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र अपनी क्षमता को गँवा बैठे और बालकों जैसा आचरण करने लग गये थे। चाणक्य के शाप से नंद वंश का जिस तरह विध्वंस हुआ, वह सर्वविदित है।

गौतम ऋषि के शाप से साठ हजार सगर सुतों की दुर्गति होना प्रसिद्ध है। मेघदूत के नायक यक्ष को शाप से प्रताड़ित होकर कितनी विरह-वेदना सहनी पड़ी, इसकी एक झाँकी उस महाकाव्य के पढ़ने वाले को सहज ही मिल जाती है ? पुराण, साहित्य के पन्ने-पन्ने पर भरी पड़ी ऐसी असंख्यों घटनाएँ बताती हैं कि ब्रह्म वर्चस का प्रहार कितना शक्तिशाली होता है। यह आत्म-शक्ति के ध्वंसात्मक पक्ष का परिचय है। यों इसका प्रयोग आपत्तिकालीन समस्याओं को हल करने के लिए यदा-कदा ही करना पड़ता है फिर भी उसकी क्षमता तो स्वीकार ही करनी होगी।

ब्रह्म विद्या की सृजनात्मक शक्ति का परिचय तो पग-पग पर मिलता है। जीवन के प्रत्यक्ष पक्ष को सुखी समुन्नत बनाने में उसका असाधारण योगदान है। धन के आधार पर मिलने वाली सुविधाएँ सर्वविदित हैं। उस माध्यम से उन्नति करने वालों के उदाहरण अपने आस-पास ही असंख्यों देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार बुद्धिबल से, शरीरबल से, कुशलता, प्रतिभा और साहसिकता जैसे गुणों से—उन्नति के उच्च शिखर तक जा पहुँचने वालों के उदाहरण भी पढ़ने पर सर्वत्र मिल जाते हैं। आत्मबल का चमत्कार इन भौतिक सामर्थ्यों की तुलना में असंख्य गुना बढ़ा-चढ़ा है। उससे व्यक्ति की आत्मसत्ता का निखार होता है और बढ़ी हुई आंतरिक प्रखरता संसार की सर्वोच्च सामर्थ्य सिद्ध होती है। इतिहास को धन्य बनाने वाले—समय के प्रवाह को मोड़ने वाले महामानव, परिस्थितियों की दृष्टि से विपन्न रहते हुए भी आंतरिक प्रखरता के सहारे ही अपनी विशिष्टता सिद्ध कर सके और समय की समस्याओं का समाधान करने में महान योगदान दे सके। इसे आत्म-शक्ति का सृजनात्मक पक्ष कह सकते हैं। ब्रह्मविद्या के तत्त्व-दर्शन में इसी का प्रावधान है।

गायत्री महामंत्र की इन उभय-पक्षीय क्षमताओं से सुसंपन्न साधक की तुलना राजहंस से की गई है। उसके उपरोक्त दोनों पक्ष—दोनों पंखों की तरह खुलते हैं और उस पर गायत्री महा शक्ति आरूढ़ होती तथा समस्त ब्रह्मांड में विचरण करती है।

साधक की सहायता के लिए जा पहुँचने में यह राजहंस ही प्रमुख माध्यम होता है। इस अलंकारिक प्रतीक प्रतिपादन में इसी तथ्य का निरूपण किया गया है कि गायत्री महाशक्ति के दो ही उपयोग हैं—कल्याणकारी श्रेय साधन में और दुःखदायी विघ्न-विदारण में उसकी सामर्थ्य अपने अद्‌भुत प्रभाव का परिचय देती है।

गायत्री को गुरु मंत्र क्यों कहा गया इसकी संगति उपरोक्त विवेचन से ठीक बैठ जाती है। 'गु' का अर्थ है ज्ञानवर्धन। 'रु' का अर्थ है अशुभ निवारण। दोनों कार्य जो सत्ता संपन्न कर सकती है उसे 'गुरु' कहते हैं। व्यक्ति उसके प्रतीक हो सकते हैं, पर वस्तुतः यह ईश्वरीय शक्ति है और हर अंतरात्मा के अंतराल में विद्यमान रहकर ब्रह्म चेतना का प्रतिनिधित्व करती रहती है। गायत्री मंत्र में इसका प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। दीक्षा गुरु शिष्य के लिए दो कार्य करते हैं। श्रद्धा-संवर्धन और उपयोगी अनुशासन नियंत्रण। आत्मिक प्रगति के यही दो मूल भूत आधार हैं, जिनके सहारे व्यक्ति क्रमशः ऊँचा, अधिक ऊँचा, असीम ऊँचा उठता चला जाता है। श्रद्धा का तात्पर्य है—अंतरात्मा की सृजन शक्ति। अनुशासन का अभिप्राय है काट-छाँट, तपाना, सुधारना, ढालना और परिवर्तित परिष्कृत करना। यह दोनों प्रयोजन गायत्री में सन्निहित प्रेरणा और समर्थता के सहारे संपन्न होते हैं। गुरु मंत्र का उच्चस्तरीय सम्मान गायत्री को क्यों मिला ? इसका समाधान इस तथ्य को समझने पर हो जाता है कि उसमें ज्ञान और विज्ञान की—अभिवर्धन और नियंत्रण की दोनों ही शक्तियाँ प्रचुर परिमाण में भरी पड़ी हैं। गुरु से जो आशा अपेक्षा की जाती है, उसका आधार गायत्री मंत्र में मौजूद होने से उसे परोक्ष गुरु तत्त्व का उद्‌गम स्रोत मान लिया गया है।

धार्मिक क्रिया-कृत्यों में संध्या-वंदन नित्य कर्म है। उसमें अर्थ परंपरा के अनुसार गायत्री का उपयोग अनिवार्य है। विद्यारंभ के समय उपनयन होता है। उस समय शिक्षण का शुभारंभ गायत्री मंत्र की दीक्षा के साथ होता है और गुरु मंत्र के रूप में समस्त शास्त्र परंपराओं के अनुसार छात्र को गायत्री मंत्र ही दिया जाता है। यज्ञोपवीत गायत्री की प्रतीक प्रतिमा है, जिसे हर घड़ी शरीर के

महत्त्वपूर्ण अंगों पर धारण किये रहने का व्रत धारण करना होता है। यही व्रत बंध है। कंधे पर उत्तरदायित्व, हृदय में श्रद्धा, कलेजे में साहस, पीठ पर कर्म-निष्ठा का समावेश माना गया है। इन सभी महत्त्वपूर्ण अंगों पर यज्ञोपवीत लपेट देने का तात्पर्य है—मानवी परिकर को पूरी तरह गायत्री मंत्र में सन्निहित उत्कृष्टता से, भाव-प्रेरणा से लपेट देना, जकड़ देना। गायत्री की प्रतीक प्रतिमा को यज्ञोपवीत के रूप में धारण करना प्रकारांतर से जीवन सत्ता को इसी महाशक्ति के आलोक से भर लेना है। विद्यारंभ संस्कार इन्हीं आस्थाओं की प्रतिष्ठापना छात्र के अंतराल में करने की दृष्टि से होता है। शुभारंभ में गायत्री मंत्र की ही प्रत्यक्ष और परोक्ष अवधारणा है। गुरु मंत्र गायत्री को क्यों कहा गया इसका आभास इस विवेचन तक पहुँचने वाले को सहज ही लग जाता है।

कथा है कि महर्षि दत्तात्रेय अपनी ज्ञान-पिपासा जब कहीं तृप्त न कर सके, तो सीधे प्रजापति के पास पहुँचे। ब्रह्माजी ने उनकी आकांक्षा जानी और बताया कि सद्गुरु के अतिरिक्त ज्ञान-पिपासा को तृप्त करने की सामर्थ्य और किसी में नहीं है। यह सद्गुरु अंतःकरण की गहराई में विद्यमान है और वहाँ तक पहुँच कर ही उसका अनुग्रह पाया जा सकता है। दत्तात्रेय ने प्रजापति का परामर्श शिरोधार्य किया और अपने अंतराल का गुरुतत्त्व खोज निकाला। उस गुरु कृपा से सुसंपन्न होकर, उन्होंने जिस भी पदार्थ या प्राणी पर दृष्टि डाली उसी में से सद्ज्ञान का स्रोत उमड़ने लगा, निर्झर बहने लगा।

कथा में ऐसी २४ घटनाओं का वर्णन किया गया है जो थीं तो सामान्य पर उन्हीं से महर्षि को आत्मबोध के समस्त रहस्य उपलब्ध हो गये। इन रहस्यों का उल्लेख महर्षि दत्तात्रेय प्रणीत 'गुरु गीता' में हुआ है। जिन पदार्थों और प्राणियों से महर्षि ने प्रकाश प्राप्त किया, उन्हें गुरु माना और दत्तात्रेय के २४ गुरु प्रख्यात हुए। पुराणकारों ने उन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। गुरुओं की संख्या २४ ही क्यों ? इससे न्यूनाधिक क्यों नहीं ? इस

प्रश्न का एक ही उत्तर है—गायत्री के चौबीस अक्षर ही वे तथ्य हैं, जिन्हें अध्यात्म जगत में 'गुरु' एवं सद्गुरु की संज्ञा दी गई है। गुरु माहात्म्य बताते हुए कहा गया है कि—'निगुरा की गति नहीं होती।' अर्थात् गुरुविहीन को आत्मिक प्रगति में सफलता नहीं मिलती। इस शास्त्र वचन में जिस गुरु तत्त्व की महानता का प्रतिपादन है, उसे गुरु मंत्र गायत्री में ही सन्निहित समझा जा सकता है।

इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए दैनिक संध्या-वंदन में गायत्री को अनिवार्य रूप से जुड़ा रखा गया है। संध्या नित्य कर्म है। संध्या प्रकारांतर से गायत्री का ही विस्तृत और व्यवस्थित कर्मकांड है। इसे दैनिक गुरु पूजा या गुरु भक्ति भी कह सकते हैं। गायत्री मंत्र की दीक्षा गुरु मुख से लेने का अभियान यह है कि प्रतीक के माध्यम से तथ्य को हृदयंगम किया जाय। शरीरधारी गुरु की सहायता से अंतरंग में ब्रह्म सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाले सद्गुरु तक पहुँचा जाय।

उपासना प्रयोजन में अनेक मंत्रों का उपयोग होता है। अनेक देवताओं की अभ्यर्थना के लिए किये जाने वाले विधि-विधानों में तद्नुरूप मंत्रों के उपयोग की परंपरा है। इन्हें साधना मंत्र, देव मंत्र, संप्रदाय मंत्र आदि की संज्ञा दी जा सकती है। पर गुरु मंत्र भारतीय धर्म में एक ही है—गायत्री। उस सर्वोच्च पद पर आसीन होने की अधिकारी मात्र वेदमाता को ही ऋषि मान्यता मिली है। इसी में शास्त्र परंपरा का समर्थन है। मुसलमान धर्म में एक ही 'कलमा' मंत्र की प्रमुखता है। ईसाई धर्म में 'बपतिस्मा' मंत्र की ही प्रधानता है। भारतीय धर्म में गुरु मंत्र के ज्ञान से मात्र गायत्री मंत्र को ही मान्यता दी गई है। यह अकारण नहीं। इस महामंत्र की साधनात्मक और शिक्षात्मक विशेषताओं को, ज्ञान-विज्ञान की दिव्य धाराओं को, ध्यान में रखते हुए ही अनादिकाल से गुरु मंत्र के रूप में मान्यता दी गई है।

गायत्री मंत्र तात्विक और दार्शनिक दृष्टि से अपने आप में पूर्ण है। उसमें ज्ञान और विज्ञान की समस्त दिव्य धाराओं से

साधक को लाभान्वित करने की सामर्थ्य मौजूद है। महत्त्वपूर्ण ज्ञान-विज्ञान के तथ्यों को छात्र ठीक तरह समझ सके और लाभान्वित हो सके, इसके लिए अध्यापक का सहयोग आवश्यक माना जाता है। ठीक इसी प्रकार गायत्री मंत्र का उपयोग व्यक्ति विशेष को किस प्रयोजन के लिए किस प्रकार करना चाहिए ? इसकी सही जानकारी प्राप्त करने के लिए दीक्षा गुरु की आवश्यकता पड़ती है। इसी से गायत्री साधना की सफलता के लिए अपने विषय के निष्णात एवं अनुभवी गुरु की आवश्यकता बताई गई है। सही चिकित्सक की तरह सही शिक्षक भी सुनिश्चित सफलता के लिए आवश्यक है। इसी दृष्टि से आत्मिक प्रगति के पथ पर चलने वाले—गायत्री उपासकों के लिए उपयुक्त गुरु का मार्ग दर्शन एवं सहयोग आवश्यक माना गया है।

❐ ❐

गायत्री अभियान से व्यक्ति और समाज का अभिनव निर्माण

❋

उपासनाओं में गायत्री साधना का स्थान सर्वोपरि माना जाने का एक कारण यह भी है कि वह अपने आपमें समग्र सर्वांगपूर्ण है। अन्य उपासनाओं को मत संप्रदाय एवं परंपरागत मान्यताओं के कारण ख्याति भले ही मिल गई हो पर इनमें समग्रता के तत्त्व कम ही पाये जाते हैं। दूध तो अन्य पशुओं का भी उपयोग ही होता है; पर गाय के दूध में लगभग वे ही विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो नारी के दूध में होती हैं। इसलिए किसी पक्षपात के कारण नहीं, गुणों के कारण ही गौ दुग्ध को प्रमुखता दी जाती है। गायत्री उपासना के संबंध में भी यही बात है। इसलिए अन्यान्य उपासनाओं में रुचि लेने वाले साधकों तक के लिए शास्त्र का परामर्श यह है कि वे गायत्री उपासना को तो अपनाए ही रहें, इसके अतिरिक्त अन्यान्य देवोपासना भी कर सकते हैं।

भूमि को जोतना तो हर हालत में आवश्यक है। इसके उपरांत बीज बोने में भिन्नता भी रखी जा सकती है। गायत्री उपासना को भूमि-शोधन, आत्म-शोधन का प्रथम प्रयोजन पूर्ण करने वाली माना गया है। धुलाई तो रंगने से पहले की ही जानी चाहिए। रंगते समय यह भी सोचा जा सकता है कि किस रंग से कपड़े रंगें, धुलाई के संदर्भ में कोई मतभेद नहीं उसकी प्राथमिकता तो सदा ही बनी रहेगी। गायत्री उपासना को मनःसंस्थान की आरंभिक आवश्यकता पूर्ण करने वाली प्रक्रिया माना गया है। यही है उसकी समग्रता और सर्वांगपूर्णता का कारण।

उपासना का बाह्य स्वरूप ऐसा है जिससे कभी-कभी यह भ्रम होने लगता है कि यह किसी देवी-देवता से कुछ याचना करने के लिए गिड़-गिड़ाहट जैसी कोई क्रिया है। साथ ही यह भी भ्रम होता है कि संभवतः देवताओं की मनोवृत्ति प्रशंसा और उपहार पाकर

प्रसन्न हो जाने और बदले में उपासक का मनचाहा देने लगने जैसी होगी। यह दोनों ही मान्यताएँ भ्रम पूर्ण हैं। तथ्य यह है कि उपासना का उपचार व्यक्तित्व के अंतराल की गहरी परतों को प्रभावित करता है और भाव-संस्थान में उत्कृष्ट तत्त्वों का आरोपण अभिवर्धन करते हुए साधक की आत्म सत्ता में प्रखरता भर देता है। यह प्रखरता ही मनुष्य की वास्तविक संपत्ति है। उसी के आधार पर व्यवहार में शालीनता और कुशलता बढ़ती है। दूसरों की दृष्टि इसी प्रखरता की न्यूनाधिकता के आधार पर किसी का मूल्यांकन करती और उसे महत्त्व एवं सहयोग प्रदान करती है। उपासना किसी दूसरे की नहीं वस्तुतः अपने ही अंतराल की, की जाती है। भीतर से संत उगता है, तो बाहर उसका विस्तार सिद्ध रूप में परिलक्षित होता है। संयोग में आत्म-परिष्कार की तथ्य पूर्ण साधना ही उपासना के विभिन्न उपचारों के रूप में दृष्टिगोचर होती है। इस प्रयोजन को पूर्ण करने में अपेक्षाकृत अधिक समर्थता युक्त होने के कारण गायत्री विद्या को उपासना क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

दैनिक संध्या-वंदन तो आत्मोत्कर्ष का नित्य कर्म है। उससे आगे जब उच्चस्तरीय साधनाओं की प्रक्रिया आरंभ होती है, तो उसमें दो धाराएँ उभरती हैं। इन्हें अंतराल के हिमालय से निकलने वाली गंगा-यमुना कहा गया है। इनका नाम है—(१) योग (२) तप। इनका समागम जिस बिंदु पर होता है, वहाँ एक नई अव्यक्त एवं अविज्ञात धारा सरस्वती के रूप में प्रकट होती है और तीर्थराज प्रयाग का माहात्म्य प्रत्यक्ष होने लगता है। बिजली के दो तार मिलते ही चिनगारियाँ छूटने लगती हैं। दो रंगों को मिलाने से तीसरा रंग बन जाता है। नर और नारी के संयोग से बालक उत्पन्न होता है। दो के मिलन से तीसरा बनने की बात रसायनशास्त्र के विद्यार्थी भली प्रकार जानते हैं। योग और तप की दिव्य धाराओं का मिलन जहाँ भी हो रहा होगा, वहाँ सिद्धियों की अधिष्ठात्री आत्म-शक्ति का नया उपहार उपलब्ध होगा। गायत्री साधना के

होने का माहात्म्य बताया गया है, उन्हें तत्त्वतः योग और तप के मिलन से उत्पन्न विशिष्टताएँ एवं सफलताएँ ही कहा जा सकता है।

योग और तप के क्रिया-कृत्यों को देखने पर यों मोटी दृष्टि आमतौर से भ्रमग्रस्त होती है और उन्हें कोई जादुई खिलवाड़ जैसी कौतूहलवर्धक हरकत मान बैठती है। इन प्रयोजनों के लिए किए जाने वाले कृत्यों को ही सब कुछ समझ लिया जाता है और उन्हें ही सीखने-सिखाने पर सारा ध्यान केंद्रित किया जाता है। तथ्य को न समझने वाले गहराई तक उतर नहीं पाते और यह जानने में असमर्थ रहते हैं कि योग और तप के नाम से प्रचलित क्रिया-कृत्यों के पीछे तत्त्व दर्शन क्यों छिपा पड़ा है और उनकी चमत्कारी शक्ति का उद्गम स्रोत कहाँ है ? उथले शारीरिक प्रयत्न ही साधना बनकर रह जाते हैं। फलतः उनकी स्थिति प्राणरहित शरीर जैसी—तेलरहित मोटर जैसी उपहासास्पद बनकर रह जाती है। जो परिणाम कहे सुने गये थे, वे न मिल पाने से उस क्षेत्र में प्रवेश करने वालों को निराशा ही हाथ लगती है। उनका उत्साह कुछ ही दिनों में ठंडा पड़ जाता है, किंतु जो वास्तविकता समझते हैं और साधना विज्ञान को आत्म-परिष्कार की सुनिश्चित पद्धति मानते हैं, वे अपने प्रयत्नों में अंतराल को प्रभावित और परिष्कृत करने का उपक्रम जोड़े रहते हैं। ऐसी समग्र साधना प्रायः निष्फल होती नहीं देखी जाती।

गायत्री उपासना के योग पक्ष में स्वाध्याय, मनन-चिंतन एवं ध्यान के आधार पर किए जाने वाले सभी उपचार सम्मिलित हैं, जो विचार तंत्र द्वारा किए जाते हैं और आस्थाओं को प्रभावित करते हैं। तप पक्ष में उन क्रिया-कलापों की गणना होती है, जिसमें शरीर के विभिन्न अवयवों को अनभ्यस्त रीति-नीति अपनाने के लिए अभ्यस्त कराया जाता है, इस प्रयत्न को तितीक्षा भी कह सकते हैं।

संक्षेप में इन दोनों प्रयोजनों से मन तथा शरीर को उत्कृष्टता का स्तर अपनाने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। साधारणतया पानी की तरह मनुष्य का स्वभाव भी निम्नगामी रहता

है। पशु-प्रवृत्तियों का अभ्यास ही जीव की चिरसंचित संपदा है। उसी में रमण करने, रस लेने की सहज रुचि रहती है। वासना, तृष्णा और अहंता की खुमारी ही चढ़ी रहती है और उन्हीं में निमग्न रहने की आदत काम करती है। इस स्थिति को उलटने से ही उत्कृष्टता की ओर उभरना, उछलना संभव हो सकता है। इन्हीं प्रयोजन के लिए योग एवं तप की समूची विधि-व्यवस्था, क्रिया-प्रक्रिया, रीति-नीति का निर्माण निर्धारण किया गया है। योग से मनःसंस्थान को और तप से शरीर-तंत्र को उच्चस्तरीय गतिविधियों में रुचि और उस प्रकार की गतिविधियों में रस लेने के लिए सहमत कर लेना ही साधना विज्ञान का एक मात्र लक्ष्य है।

इस प्रयोजन में जिसे जितनी सफलता मिलती है, वह उसी अनुपात से दिव्य शक्तियों और सफलताओं से लाभान्वित होने लगता है। देवता अंतरिक्ष में भी रहते हैं और दैवी शक्तियों का आधिपत्य सूक्ष्म जगत में भी छाया हुआ है, पर उनके साथ संपर्क बनाने की क्षमता अपने ही परिष्कृत अंतःकरण में होती है। इसके बिना और किसी तरह उनसे संपर्क साधना संभव ही नहीं है। व्यक्तित्व में निकृष्टता के भरे रहने पर दैवी अनुग्रह उपलब्ध होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी प्रकार किसी को अंधे के हाथ बटेर लग भी जाये तो निकृष्टता के द्वारा उसका दुरुपयोग ही होता है। फलतः साधना के बल पर मिली हुई सफलताएँ अपने और दूसरों के लिए हानिकारक ही सिद्ध होती हैं। रावण, कुंभकरण, मारीच, सहस्त्रबाहु, भस्मासुर, हिरण्यकश्यपु, वृत्तासुर आदि दुर्दांत दस्युओं के उदाहरण सामने हैं। उन्होंने किसी प्रकार साधना से उथली सिद्धियाँ प्राप्त तो कर लीं, पर उनका सदुपयोग न कर पाने के कारण उलटे संकट, विपत्ति एवं अपकीर्ति के ही भागी बन सके। साधना का विज्ञान विशुद्ध रूप से आत्म विकास की विधि-व्यवस्था से भरा पड़ा है।

उपासना में चिंतन को ईश्वर के समीप पहुँचाने एवं घनिष्ठ बनाने के लिए भक्ति भावना को विकसित करना होता है। इस

घनिष्ठता को ही योग कहते हैं। मोटे अर्थों में योग का अर्थ होता है—जोड़ना। आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ देना ही योग है।

ध्यान के समय किसी शरीरधारी या प्रकाश प्रतिमा आदि के रूप में भी परमात्मा की धारणा की जाती है। वह एक सामयिक प्रयोजन है। वस्तुतः परमात्मा की अनुभूति अंतःकरण में एक दिव्य-संवेदना के रूप में ही होती है और उस संवेदना की व्याख्या वैयक्तिक उत्कृष्टता एवं सामाजिक उदारता के रूप में ही की जा सकती है। देवताओं की आकृतियाँ भी सद्गुणों के समुच्चय के रूप में ही गढ़ी हुई हैं। उनके साथ घनिष्ठता बनाने का तात्पर्य है दैवी गुणों को अपने व्यक्तित्व की गहराई में समाविष्ट करना। जिसकी आस्थाओं में उत्कृष्टता का जितना अधिक समावेश हो सके, समझना चाहिए कि वह उतने ही परिमाण में, भक्ति साधना की, योग साधना की, ईश्वर प्राप्ति की मंजिल पूरी कर ली गई। ईश्वर के ढाँचे में ढल जाना उसके आदेशों का, नीति मर्यादाओं का, पालन करना ही वह आत्म समर्पण है, जिसे योग दर्शन में अनेक प्रकार से समझाया जाता है। समस्त योग-साधनाओं का मूल उद्देश्य एक है कि ईश्वर को अर्थात् उत्कृष्टता को इतना आत्मसात कर लिया जाय कि व्यक्तित्व में उसी की प्रधानता परिलक्षित होने लगे। उपासना का विवेचन करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचना होता है कि साधक को अपनी चेतना के चारों उपकरणों को—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को उच्चस्तरीय आस्थाओं के रंग में रंग देना पड़ता है। इसका सामान्य विवेचन किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि यह अंतर्जगत में उत्कृष्टता भर देने और व्यक्ति को आदर्शवादी बनाने का ही एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग है।

उपासना के विभिन्न क्रिया-कलापों पर, कर्मकांडों पर, विधि विधानों पर, गंभीर दृष्टि डाली जाय और उनका विवेचन वर्गीकरण किया जाय तो प्रतीत होता है कि वे सभी क्रियाओं के माध्यम से सदाशयता का अंतःकरण को प्रशिक्षण देने का ही प्रयोजन पूरा करती हैं। दृश्य एवं कृत्य के माध्य से समझना और समझाना सरल पड़ता है। विभिन्न प्रकार के अभिनय इसी उद्देश्य के लिए होते हैं। बाल कक्षा

के शिशुओं को खिलौनों, वस्तुओं एवं दृश्यों के माध्यम से ही ज्ञान वृद्धि का आरंभ कराया जाता है। बड़े लोगों को भी अनेक प्रकार के प्रदर्शनों एवं अभिनयों के द्वारा किसी जानकारी को हृदयंगम कराने का प्रयत्न किया जाता है। उपासनात्मक कर्मकांडों के पीछे भी इसी उद्देश्य को पूरा करने का उद्देश्य छिपा हुआ है। पूजा उपचार में काम आने वाली अनेक प्रक्रियाएँ प्रकारांतर से साधक की चेतना पर यही संस्कार डालती हैं कि उसके चिंतन एवं अभ्यास को आदर्शवादिता की दिशा धारा में ही बहना और बढ़ना चाहिए।

तप-साधना में उन तितीक्षाओं का समावेश है, जिनमें ऊँचे उद्देश्यों के लिए शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक कष्ट सहना पड़ता है। कर्मफल प्रकृति क्रम एवं दूसरों के व्यवहार में आये दिन अनेकों कष्ट सहने पड़ते हैं, किंतु आदर्शों के प्रतिपालन में जो थोड़ी बहुत कठिनाइयाँ आती हैं उन्हें स्वेच्छा और प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करने का साहस बन नहीं पड़ता है, जबकि वह उत्कृष्टता का उपार्जन करने के लिए नितांत आवश्यक है। महानता के मार्ग पर चलने वाले हर व्यक्ति को आदर्शवादी निष्ठा का प्रमाण देने के लिए जीवन भर तरह-तरह की कठिनाइयों से जूझना पड़ा है। इसी कसौटी पर खरे उतरने के उपरांत ही किसी को श्रेष्ठता का आत्म-संतोष और लोक-सम्मान मिल सका है। तप-तितीक्षा की साधना में अनेक प्रकार के संयम बरतने पड़ते हैं और सत्प्रयोजनों के लिए बढ़-चढ़कर अंशदान करने पड़ते हैं। विरोध सहने का भी साहस दिखाना पड़ता है। यह समस्त प्रयोग क्रम तप-साधना कहलाता है। इसे प्रकारांतर से आत्मबल के अभिवर्धन का अभ्यास ही कहा जा सकता है।

तप के दो प्रतिफल बताये हैं—कषाय-कल्मषों का परिशोधन और आत्मबल का अभिवर्धन। तप का शब्दार्थ होता है—तपाना-गरम करना। तपाने से जमीन से निकलने वाली मिट्टी मिली धातुओं का परिशोधन किया जाता है। ताप के प्रभाव से रोग-कीटाणुओं को मारने की प्रक्रिया चिकित्सकों द्वारा अपनाई जाती है। तपाने से कच्ची मिट्टी पक्की ईंटों के रूप में मजबूत बनती है। तपाने से पानी को भाप के रूप

में प्रचंड शक्ति संपन्न बनने का अवसर मिलता है। धातुओं को गलाकर उपकरण औजार बनते हैं। भोजन-पकाने से लेकर कारखाने चलाने तक में गर्मी की शक्ति ही काम करती है। अपनी भीतर की विशेषताओं एवं विभूतियों को उभारने के लिए भी श्रमशीलता, तन्मयता, उमंग भरी आशा सुनिश्चित संकल्प शीलता जैसी सद्प्रवृत्तियों को अपनाने से ही काम चलता है। इसी मार्ग पर चलने का अभ्यास तप-साधना में करना पड़ता है। प्रकारांतर से उसे सदुद्देश्यों की पूर्ति में काम आने वाले शौर्य, साहस एवं त्याग, बलिदान का अभ्यास ही कहा जा सकता है।

उपासनाओं में गायत्री उपासना प्रमुख है। उसके कितने ही प्रयोग एवं प्रकार हैं। इस समस्त समुच्चय का वर्गीकरण, विश्लेषण, विवेचन करने पर दो ही तथ्य सामने आते हैं—मन को योगी और शरीर को तपस्वी बनाना अर्थात दोनों को उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता अपनाने के लिए प्रशिक्षित करना, अनुकूल बनाना और रुचि लेने की स्थिति तक पहुँचना। यह व्यक्तित्व में सत्प्रवृत्तियों का समावेश करने की साधना है। भौतिक समृद्धियाँ और आत्मिक विभूतियाँ मिलने का यह समग्र उत्कर्ष ही एक मात्र उपाय है। उपासना की समूची प्रक्रिया इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए तत्त्वदर्शियों द्वारा विनिर्मित की गई हैं। भ्रांतियों में उलझ जाया जाये तो बात दूसरी है, अन्यथा उपासना के तत्त्वज्ञान को सही रूप से समझने और समझाने की व्यवस्था बना सके तो निश्चित रूप में इस दिशा में किया गया परिश्रम हर दृष्टि से हर किसी के लिए उपयोगी ही सिद्ध होता है। उपासना का वातावरण जहाँ भी बनेगा, वहाँ शालीनता की दिशा में अंतःप्रवृत्तियों के ढलने का और सज्जनता की परंपरा चल पड़ने का क्रम निश्चित रूप से चल पड़ेगा।

कहा जा चुका है कि उपासना विज्ञान में सर्वांगपूर्ण साधना गायत्री मंत्र के माध्यम से जैसी अच्छी तरह बन पड़ती है, उसे अनुपम ही कहा जा सकता है। इस तत्त्व ज्ञान और साधना विधान को लोक रुचि का अंग बनाया जा सके तो उसकी प्रतिक्रिया व्यक्तित्वों का स्तर

उत्कृष्टता की ऊँचाई में उछाल देने जैसा ही हो सकता है। कहना न होगा कि मनःस्थिति के सुधरते ही परिस्थितियाँ सुधरती हैं। व्यक्तियों का समूह ही समाज है। व्यक्तिगत निकृष्टता की परिणिति ही अनेक समस्याओं और विपत्तियों के रूप में सामने आती हैं। तात्कालिक सुधार के लिए अन्य उपाय भी हो सकते हैं किंतु विपन्नता की जड़ काटने का एक ही मार्ग है कि जन-समाज में शालीनता की परंपराएँ चल पड़ें, पर प्रचलन व्यक्तिगत जीवन में श्रेष्ठता का संवर्धन होने से ही हो सकता है। वैयक्तिक श्रेष्ठता बढ़ाने के लिए सुविधा-संवर्धन और बौद्धिक प्रशिक्षण की बात सोची जाती है। सो है तो वह भी ठीक किंतु इन प्रयत्नों में तब तक अधूरापन ही बना रहेगा, जब तक कि अंतःकरण की गहराई में उतरकर आस्थाओं को उत्कृष्ट बनाने को भी अनिवार्य न माना जाए। आस्था रहित संपन्नता अंततः वैसी ही अनिष्टकर हो सकती है जैसी कि बढ़ती हुई सुविधाएँ और शिक्षा के साथ-साथ बढ़ती हुई विपत्ति की विभीषिका इन दिनों सामने खड़ी है।

गायत्री का तत्त्व-ज्ञान और विधि-विधान योगपरक चिंतन और तपपरक अभ्यास की भली प्रकार पूर्ति कर देता है। इसका जितना अधिक विस्तार होगा उसी अनुपात से व्यक्ति की श्रेष्ठता और समाज की सुव्यवस्था बढ़ती चली जायेगी। युग परिवर्तन का अभियान इसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए है। मोटी दृष्टि से देखने पर पूजा-पाठ की बात छोटी-सी प्रतीत होती है, किंतु यदि उसकी विशिष्टता और संभावना की दूर दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि युग समस्याओं के समाधान की, उज्ज्वल भविष्य के निर्माण की आवश्यकता पूरी कर सकने की क्षमता आस्थाओं के स्पर्श करने वाली युग क्रांति से ही अभीष्ट परिवर्तन संभव हो सकेगा। यह समस्त संभावनाएँ गायत्री अभियान में पूरी तरह सन्निहित हैं।

❐ ❐

युग क्रांति में गायत्री यज्ञों की भूमिका

❋

गायत्री महाशक्ति के दो रूप हैं—एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष। परोक्ष का तात्पर्य है उसका चिंतन परक प्रयोग—जप, ध्यान, धारणा और लय। इसे तत्त्व ज्ञान या योगाभ्यास कह सकते हैं। यह प्रयोग अंतरंग क्षेत्र में होता है। बाहर से तो आपको जप भर दिखाई पड़ता है। उसका स्वरूप और प्रभाव साधन कर्त्ता को ही विदित रहता है। अन्य लोग तो उसे शांत एकांत में कुछ करते हुए ही देख पाते हैं। इसे व्यक्तिगत पक्ष भी कह सकते हैं।

गायत्री का दूसरा प्रत्यक्ष पक्ष है—यज्ञ। इसका स्वरूप सर्वसाधारण की दृष्टि में आता है, उसमें सामूहिक प्रयत्नों का समावेश रहता है। कृत्य और दृश्य का समावेश रहने से सर्व साधारण को उसकी हलचलों को देखते हुए कुछ निष्कर्ष निकालने और प्रभाव ग्रहण करने का अवसर मिलता है, उसमें आकर्षण भी रहता है और उत्साह भी। इसलिए उसे प्रचार एवं शिक्षण का माध्यम भी बनाया जा सकता है। यह सारी व्यवस्था समिधा, शाकल्प, यज्ञ पात्र, मंडप, कुंड आदि के सहारे बनती है और पदार्थों द्वारा विनिर्मित की जाती है इसलिए उसे भौतिक भी कह सकते हैं।

गायत्री और यज्ञ का परस्पर अन्योन्याश्रय संबंध है। शास्त्रकारों ने गायत्री को धर्म संस्कृति की जननी और यज्ञ को उसका पिता कहा है। दोनों एक-दूसरे के पूरक और अविच्छिन्न माने गये हैं। अनुष्ठानों के विधान में जप के अनुपात से हवन करने, आहुतियाँ देने का भी विधान है। उस विधान की अनिवार्यता है, जो साधनों के अभाव में उसे कर नहीं पाएँ, उनके लिए विकल्प यह है कि अनुष्ठान के कुल जप का दशांश जप अधिक करके उसकी पूर्ति कर लें। यह स्थानापन्न—आपत्ति कालीन व्यवस्था है।

मूलतः तो यज्ञ की आवश्यकता अपने स्थान पर यथावत बनी ही रहती है।

गायत्री मंत्र को नित्य कर्म में संध्या-वंदन का मेरुदंड माना गया है। भोजन के बाद विद्या का महत्त्व है। विद्यारंभ संस्कार के समय गुरु मंत्र के रूप में गायत्री मंत्र की ही दीक्षा दी जाती है उसके उपरांत अध्ययन प्रारंभ होता है। ऋतंभरा प्रज्ञा की ध्वजा के रूप में सिर पर शिखा की प्रतिष्ठापना होती है और शरीर पर सत्कर्मों की प्रतिज्ञा रूपी यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। दोनों गायत्री के प्रतीक हैं। यज्ञोपवीत के नौ धागे गायत्री मंत्र के नौ शब्द—तीन लड़ें, तीन चरण, गाँठें व्याहृतियाँ और प्रणव हैं। शिर पर सद्ज्ञान और कंधे पर सत्कर्म की प्रेरणा देने का अनुशासन शिखा सूत्र का समुच्चय है। इसे भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रतीक माना गया है। मुंडन-संस्कार में शिखा की स्थापना और उपनयन संस्कार में यज्ञोपवीत की धारणा समारोहपूर्वक की जाती है। इसे मनुष्य जीवन के साथ गायत्री महाशक्ति की प्रतिष्ठापना का शास्त्रीय उपक्रम कहा जा सकता है।

यज्ञ-प्रक्रिया भी ठीक गायत्री साधना की ही तरह आत्मिक प्रगति की आवश्यकता के रूप में स्वीकारी गई है और उसकी विधि-व्यवस्था को प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक परंपराओं में गूँथा गया है। जन्म से लेकर मरणपर्यंत षोड्स संस्कारों का विधान है। उन सबमें यज्ञ अनिवार्य है। विवाह यज्ञाग्नि की साक्षी में ही होता है और मरण के उपरांत शरीर को चिता बनाकर यज्ञाग्नि में होमा जाता है। समस्त पर्व त्यौहारों में, शुभारंभ समारोहों में धार्मिक विधान अपनाना हो तो यज्ञ कृत्य के लिए स्थान रखना ही होगा। होली सामूहिक वार्षिक यज्ञ ही है, जिसे चिह्न पूजा के रूप में अभी भी गाँव-गाँव में गली-मुहल्लों में किसी न किसी तरह संपन्न कर ही लिया जाता है। अगरबत्ती और घृत दीप जलाकर, उनके समन्वय से यज्ञ कृत्य की सरल आवश्यकता किसी प्रकार पूरी की जाती रहती है। महिलाएँ देवी-देवताओं की पूजा करते समय अभी भी

अंगारे पर लोंग, बताशा, पूड़ी, हलुआ, चढ़ाकर यज्ञ परंपरा को जीवित रखे रहती हैं। भूत भगाने वाले तक उलटा-सीधा कोई न कोई तरीका धूनी जलाने जैसा अपनाते देखे गये हैं। भोजन से पूर्व दैनिक पंच यज्ञों का शास्त्रीय विधान है, उसकी पूर्ति के लिए अभी भी धर्मपरायण व्यक्ति न्यूनतम पाँच आहुतियों का हवन करके तब भोजन ग्रहण करते हैं।

इन सब पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि गायत्री के चिंतन और यज्ञ का कृत्य दोनों ही समान रूप से देव संस्कृति के अविच्छिन्न अंग माने जाते रहे हैं और दोनों को समान महत्त्व मिलता रहा है। सद्ज्ञान और सत्कर्म का समन्वय ही व्यक्ति और समाज को ऊँचा उठाता है, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए सद्ज्ञान की अधिष्ठात्री गायत्री और सत्कर्म के प्रतीक प्रतिनिधि यज्ञ को देव संस्कृति के रथ में जुड़े हुए दो पहिए माना गया है।

सामान्य रूप से वैयक्तिक जप अनुष्ठानों में सर्वत्र हवन होते ही रहते हैं। पर्व, त्यौहारों और शुभारंभ हर्षोत्सवों में भी उसका आयोजन छोटे या बड़े रूप में होता है। प्राचीन काल में सामयिक समस्याओं का व्यापक रूप से समाधान करने के लिए विज्ञ व्यक्तित्वों के विशालकाय सम्मेलन यज्ञों के नाम से ही नियोजित किये जाते थे। राज समस्याओं का समाधान राजसूय यज्ञों में धार्मिक समस्याओं का निराकरण वाजपेय यज्ञों के मंच पर होता था। वाजपेय यज्ञों में गायत्री यज्ञ ही प्रमुख है। यों विशेष प्रयोजनों के लिए जिस-तिस देवता की प्रसन्नता के लिए विष्णु यज्ञ, रुद्र यज्ञ, चंडी यज्ञ आदि भी होते रहते हैं, पर सामान्य अर्थ में सर्व जनीन मान्यता और प्राचीन परंपरा के अनुसार यज्ञ का तात्पर्य गायत्री यज्ञ ही समझा जाता है। 'गायत्री यज्ञ' का संक्षिप्त 'यज्ञ' शब्द कह देने मात्र से भी काम चल जाता है।

युग शक्ति के रूप में गायत्री के अवतरण का एक स्वरूप इस महामंत्र में सन्निहित तत्त्व ज्ञान से जन-साधारण को परिचित करना और उसकी उपासना को लोक मान्यता दिलाना है। सामूहिक

एवं संकल्प सूत्र में जुड़े हुए गायत्री जप-अनुष्ठानों की शृंखला को व्यापक बनाया जा रहा है। इन प्रयत्नों में व्यक्तिगत अंतराल और समूहगत वातावरण के परिष्कार की पूरी संभावना है। इसी प्रकार गायत्री यज्ञ अभियान को भी एक व्यापक आंदोलन का रूप दिया गया है। सामूहिक जप और सामूहिक यज्ञों की आयोजन शृंखला गायत्री परिवार द्वारा चलाई और व्यापक बनाई गई है। पिछले २५ वर्ष के प्रयास हैं। अब उसे लोक रुचि और अभ्यस्त परंपरा के रूप में मान्यता मिल गई है। इन आयोजनों के साथ अनिवार्य रूप से ज्ञान यज्ञ का लोक-शिक्षण जुड़ा रहता है। बहुधा इसे युगनिर्माण सम्मेलन का नाम दिया जाता है। उसे जन-मानस के परिष्कार के लिए धर्म तंत्र के माध्यम से किया गया लोकशिक्षण कह सकते हैं। इन आयोजनों में अंट-संट बकवास करने पर पूरा प्रतिबंध रहा है। सुनियोजित गायत्री यज्ञों में इस मर्यादा का पूरी तरह पालन किया जाता है कि उस मंच से गायत्री महाशक्ति के युग अवतरण का स्वरूप और क्रिया-कलाप को ही विज्ञ व्यक्तियों द्वारा समझाया जाये। प्रवचनों की इस मर्यादा का सतर्कता के साथ पालन करने और उद्‌बोधनकर्त्ताओं के अपने विषय में अध्ययनशील होने की शर्त रहने का ही प्रभाव है कि गायत्री यज्ञों के माध्यम से युग परिवर्तन के अनुरूप लोक-मानस ढालने में आशातीत सफलता मिली है। भविष्य में इस प्रयास को और भी अधिक व्यापक एवं सरल बनाया जाना है, ताकि विचार क्रांति का, जन-जागृति का युगांतकारी उद्देश्य पूरा हो सके।

यज्ञ अनुष्ठान में सामूहिक श्रमदान और समस्वर अनुशासन यह दो प्रत्यक्ष तथ्य हैं, जिन्हें नवयुग की भौतिक प्रगति के मूलभूत आधार माना जा सकता है। इस कृत्य में आरंभ से लेकर अंत तक इन दो प्रवृत्तियों को पग-पग पर कार्यान्वित होते हुए देखा जा सकता है। सामूहिक जप की अंश गणना में आहुतियों का होना, यज्ञशाला, कुंड निर्माण सज्जा, महिलाओं द्वारा जलयात्रा, जुलूस शोभायात्रा अनेक कुंडों पर अनेक होताओं का यजन

करना-मिल-जुलकर अर्थ-व्यवस्था बनाना-सहभोज, प्रचार यात्रा आदि सभी कार्य मिल-जुलकर करने होते हैं। एकाकी प्रयत्न में इतने साधन जुटाये जाने कठिन हैं। निजी पैसे से निजी यज्ञ करना हो तो भी यजमान, यजमान पत्नी, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा, आचार्य, दृढ़ पुरुष आदि कितनों की नियुक्ति उसमें करनी होती है। नित्य कर्म की आहुतियाँ भर एकाकी हो सकती हैं अन्यथा प्रत्येक सुनियोजित यज्ञ सामूहिक श्रमदान और मनोयोग जुटाये बिना हो ही नहीं सकता। इस प्रक्रिया में यज्ञ के माध्यम से सामूहिकता का, श्रम प्रतिष्ठा का लोक-शिक्षण उदाहरण प्रस्तुत करते हुए किया जाता है।

अस्त-व्यस्तता को निरस्त करने के लिए ब्रह्मा और आचार्य को सतर्कता अधिकारी की तरह नियुक्त किया जाता है। वे बारीकी से देखते हैं कि सर्वत्र स्वच्छता, सजगता और व्यवस्था बनी हुई है या नहीं। अपनी पैनी दृष्टि से वे त्रुटियों का पता लगाते हैं और उसे तत्काल सुधारते हैं। मंत्रोच्चारण सस्वर, साथ-साथ बोला जाना-आहुतियाँ सभी हाथों से एक साथ पड़ना, सबकी वेष-भूषा एवं शरीर स्थिति एक जैसी रहना, स्वच्छतापूर्वक यज्ञशाला में प्रवेश करना, घृत अवघ्राण आदि में व्यवस्था, पंक्तिबद्ध परिक्रमा जैसे कार्यों में अनुशासन की ही प्रधानता है। इनके लिए जो नियम बाँधे गये हैं, उनमें अनुशासन के परिपालन पर पूरा ध्यान रखा जाता है। इसे मोटी दृष्टि से देखा जाये तो उसे फौजी परेट जैसी सतर्कता का प्रशिक्षण भी कहा जा सकता है। यह दोनों ही सत्प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जिनका जन-जीवन में जितना गहरा समावेश होगा, उसी अनुपात से व्यक्ति को समुन्नत, सुसंस्कृत बनने का, समाज को सुसंपन्न, सुदृढ़, सुव्यवस्थित होने का अवसर मिलता चला जायेगा। प्रगति और शांति का यही मार्ग है।

यज्ञ शब्द के तीन अर्थ हैं—(१) दान, उद्गाता (२) संगतिकरण, संगठन (३) देव-पूजन उत्कृष्टता का वरण समर्थन। जहाँ इन तीनों सत्प्रवृत्तियों को अपनाया जाएगा, वहाँ सज्जनता और

महानता के चिह्न उभरते चले जायेंगे और समस्याओं के सुलझते देर न लगेगी। मनुष्य में देवत्व के उदय के लिए इन तीन धाराओं की गंगा-यमुना और सरस्वती की उपमा दी जा सकती है और उनके संगम को त्रिवेणी कहा जा सकता है। रामायण के अनुसार इस संगम में स्नान अवगाहन करने वालों का आंतरिक काया-कल्प होता है। रामायण में कहा गया है—

"भज्जन फल देखिय तत काला।
काक होहिं पिक-बकहु मराला।।"

इसी स्तर का आंतरिक परिष्कार ही युग परिवर्तन का आधार माना गया है। अस्तु यज्ञ की व्याख्या विवेचना करते हुए—उस तत्त्व ज्ञान का स्वरूप, प्रयोग और परिणाम समझाते हुए यह मार्ग दर्शन भली प्रकार किया जा सकता है, जो युग परिवर्तन की समग्र आवश्यकता को पूरा करने के लिए आवश्यक है। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों राष्ट्रीय झंडे के तीन रंगों की व्याख्या करते हुए स्वाधीनता के तीन उद्देश्य और तीन कार्य-क्रम समझाये जाते थे। ठीक उसी प्रकार व्यक्ति परिवार और समाज का, बौद्धिक, नैतिक एवं सामाजिक क्रांति का, भाव-ज्ञान एवं कर्म के परिष्कार का, सर्वतोमुखी प्रगतिशील लोक-शिक्षण भली प्रकार संभव हो सकता है। जीवन में यज्ञीय आस्थाएँ और समाज में यज्ञीय परंपरा प्रतिष्ठापना के लिए आवश्यक सभी सूत्र यज्ञ के तत्त्व ज्ञान में बीज रूप में मौजूद है। धर्म-परंपराओं के आधार पर प्रगतिशीलता का प्रशिक्षण करने की प्रक्रिया कितनी हृदयग्राही और कितनी सफल हो सकती है ? इसका अनुभव प्राचीन काल की तरह ही इन दिनों भी किया जा सकता है। वही किया भी जा रहा है।

यज्ञ कृत्य के अंतर्गत कितने ही छोटे-छोटे विधि-विधान आते हैं। इन सबके पीछे वे सभी दृष्टिकोण सन्निहित हैं, जिन्हें अपनाने से व्यक्ति और समाज का, नवयुग का, उत्कृष्टता संपन्न ढाँचा खड़ा किया जाता है। उन सभी कृत्यों की प्रयुक्त होने वाले मंत्रों की, विधि-विधानों के साथ-साथ व्याख्या भी होती चले तो यज्ञ आयोजन

से बहुमुखी लोक-शिक्षण की उच्चस्तरीय आवश्यकता भली प्रकार पूरी होती रह सकती है। यज्ञाग्नि के रूप में युग क्रांति की प्राणवान प्रतिभा की स्थापना-अभ्यर्थना का भाव-भरा उपक्रम ऐसा है, जिसके सहारे जन भावना को अवांछनीयता के उन्मूलन एवं शालीनता के पुनर्जीवन के लिए उभारा और जुटाया जा सकता है।

यज्ञ का अपना विज्ञान है। उसमें मंत्र शक्ति का, विशिष्ठ शाकल्य का, रहस्यमय विधि-विधान का, संयुक्त सत्प्रयत्नों की परिणति, प्रतिक्रिया का सम्मिलित प्रभाव ऐसा होता है, जिससे सूक्ष्म जगत में उपयोगी हलचलें होने लगती हैं। इन उद्भूत दिव्य-तरंगों के फलस्वरूप रुग्णता का निवारण—मनोविकारों का निराकरण-कुसंस्कारों का उन्मूलन संभव होता है। शास्त्रकारों ने यज्ञ से पर्जन्य की उत्पत्ति होने की बात कही है और पर्जन्य को समृद्धि बरसाने वाला कहा गया है। यह मात्र बादलों से पानी बरसने जैसी सामान्य बात नहीं है। पर्जन्य का तात्पर्य है—प्राण वर्षा। प्राण अर्थात समर्थता। यह जल, वायु, ऊर्जा, पृथ्वी आदि पर आकाश से बरसती है और प्राणियों तथा पदार्थों का स्तर ऊँचा उठाती है। पर्जन्य को सर्वतोमुखी प्रगति का सशक्त आधार माना गया है। यज्ञ-प्रक्रिया से उसी की उत्पत्ति और वर्षा होती है। संक्षेप में इसे सूक्ष्म जगत में बनने और बढ़ने वाली उपयोगी अनुकूलन कह सकते हैं। इसी से पर्जन्य को सर्वतोमुखी सुख-शांति का आधार माना गया है। यज्ञ इस विभूति का जनक होने के कारण श्रेष्ठतम सत्कर्म माना गया है और उसे यज्ञ पुरुष कहकर दृश्यमान विष्णु का सम्मान दिया गया है।

मनु ने यज्ञ कर्त्ता के शरीर से ब्राह्मणत्व के उत्पन्न होने की बात कही है। उसी को युग-परिवर्तन प्रक्रिया के अंतर्गत मनुष्य में देवत्व का उदय कहा गया है। पर्जन्य के सहारे बरसने वाली समृद्धि को सतयुगी सुख-शांति का उद्गम कहा गया है। यज्ञ प्रक्रिया द्वारा सूक्ष्म जगत का परिशोधन करने और इस प्रयोजन के लिए दिव्य शक्तियों का सहयोग प्राप्त करने का ऐसा आधार

बनाया जा सकता है, जो सामान्य भौतिक प्रयत्नों से संभव नहीं हो सकता। नव-निर्माण के लिए आवश्यकता तो भौतिक शक्तियों और साधनों की भी पड़ेगी, पर चूँकि वह सारा क्षेत्र चेतना के परिष्कृत करने का है इसलिए उसमें सूक्ष्म शक्तियों का, देव शक्तियों का उपयोग ही प्रधान भूमिका संपादित करेगा। गायत्री यज्ञों से उसी आवश्यकता की पूर्ति होती है।

प्रस्तुत गायत्री यज्ञों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई प्रक्रिया 'देव दक्षिणा' की है। जिसका अर्थ होता है दुष्प्रवृत्तियों के परित्याग और सत्प्रवृत्तियों के ग्रहण का अग्निदेव की साक्षी में लिया गया संकल्प। युग निर्माण योजना द्वारा आयोजित सभी यज्ञों में हवन करने वाले को कुछ न कुछ देव दक्षिणा देनी पड़ती है और उसका संकल्प पत्र भरना होता है। यह दक्षिणा पैसे की नहीं वरन् आत्म-परिष्कार की होती है, जिसका तात्पर्य है अपनी वर्तमान बुरी आदतों में से कम से कम एक का परित्याग और एक सत्प्रवृत्ति को बढ़ाने के लिए विशेष रूप से प्रयत्न। वैयक्तिक अनैतिकताएँ, प्रचलित मूढ़-मान्यताएँ, सामाजिक कुप्रथाएँ मिलकर दुष्प्रवृत्तियाँ बनती हैं। इनमें से प्रत्येक वर्ग की अवांछनीयता का परित्याग करना और विवेक सम्मत औचित्य को अपनाया जाना यही है देव दक्षिणा अभियान का प्रयोजन। इसे युग निर्माण का आधार और युग शक्ति के अवतरण का मूलभूत प्रयोजन कहा जा सकता है। धर्म की स्थापना और अधर्म का विनाश, अवतार का एक मात्र उद्देश्य रहा है। गायत्री यज्ञ की पुण्य-प्रक्रिया में आदि से अंत तक यही चिंतन और कर्तृत्व भरा पड़ा है। यज्ञ के देव दक्षिणा पक्ष को तो स्पष्टतया उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्यरत समझा जा सकता है।

❐ ❐

त्रिपदा गायत्री—ब्रह्म विद्या की त्रिवेणी

❋

गायत्री को त्रिपदा कहा गया है। त्रिपदा अर्थात् तीन पैरों वाली। उसके तीन चरणों को सत्, रज, तम के सत्यं शिवं सुंदरम् के, उत्पादन, अभिवर्धन, परिवर्तन के ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में अनेकों प्रतिपादनों, उपाख्यानों के माध्यम से शास्त्रकारों ने समझाया है। तीन लोक प्रख्यात हैं—भू लोक, भुवः लोक, स्वः लोक। इन्हीं को धरती, पाताल और आकाश अथवा स्वर्ग कहते हैं। यह लोक दृश्यमान नहीं अदृश्य हैं। पदार्थ से नहीं चेतना से बने हैं। भूलोक हाड़-मांस की काया को कहते हैं—भुवः लोक विचार-संस्थान है और स्वः लोक भाव-संवेदनाओं का उद्गम अंतःकरण।

गायत्री महामंत्र में सन्निहित भूः, भुवः, स्वः की व्याहृतियों को गायत्री का मूल माना गया है। इसके त्रिक् का तीन-तीन शब्दों के तीन चरणों में विकास हुआ है। भूः से गायत्री के आठ अक्षर वाले प्रथम चरण का विस्तार हुआ है। तत् सवितु वरेण्यं, इस प्रथम पाद में आठ अक्षर और तीन शब्द हैं। इसी प्रकार भुवः शब्द का विस्तार गायत्री के द्वितीय चरण में हुआ है—'भर्गो देवस्य धीमहि' में भी आठ अक्षर और तीन शब्द हैं। तीसरी व्याहृति 'स्वः' है। इससे तीसरा चरण बना। 'धियो योनः प्रचोदयात्। इसमें भी आठ अक्षर और तीन शब्द हैं। यों प्रथम सूत्र ओऽम् में भी अ-उ-म् तीन अक्षर हैं। उनसे तीन व्याहृतियों की उत्पत्ति मानी गई है।

बीज में वृक्ष का विशालकाय परिकर छिपा रहता है। शुक्राणु में पूरा मनुष्य छिपा बैठा रहता है। छोटी-सी माइक्रो फिल्म में विशालकाय ग्रंथ अंकित हो जाता है। परमाणु में एक सौरमंडल ही समूचा ब्रह्मांड ही विद्यमान देखा जा सकता है। इसी प्रकार गायत्री मंत्र में मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक तीनों ही क्षेत्र केंद्रित हैं। इनको सुविकसित बनाने की शिक्षाएँ, प्रेरणाएँ भी भरी पड़ी हैं। साथ ही वे दिव्य शक्तियाँ भी मौजूद हैं, जो इन तीनों

क्षेत्रों की विभूतियों एवं संपदाओं से, ऋद्धियों और सिद्धियों से, परिपूर्ण बना सके।

त्रिपदा की व्याख्या संसार क्षेत्र में तीन ऋतुएँ, तीन काल, तीन वय के रूप में भी होती हैं। जल, थल और नभ के रूप में इसकी व्याख्या होती है। चेतना क्षेत्र में त्रिपदा का आलोक मनुष्य को सज्जन, महामानव और देवात्मा बनाता है। इन्हीं को संत, ऋषि अवतार कहते हैं। विभूतियों के क्षेत्र में सरस्वती, लक्ष्मी और काली की चर्चा की जाती है। त्रिवेणी में गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम है। रामायण के अनुसार इसमें मज्जन करने वाले "काक होंहि पिक, वकहु मराला" की स्थिति में बदल जाते हैं। आकृति यथावत रहते हुए भी उनकी प्रकृति में काया-कल्प जैसा अंतर आ जाता है।

गायत्री का नाम त्रिपदा क्यों पड़ा ? इसका सुविस्तृत वर्णन इन पंक्तियों में किया जाना कठिन है। उस तत्त्व ज्ञान की यथा समय-चर्चा की जाएगी। यहाँ तो इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि नवयुग के अवतरण में त्रिपदा की क्या भूमिका हो सकती है ? इस संदर्भ में यज्ञोपवीत के स्वरूप की चर्चा करना उचित है—उपनयन को गायत्री की मूर्तिमान प्रतिमा माना गया है। उसके नौ धागे—गायत्री के नौ शब्द हैं। तीन लड़ें, तीन चरण, तीन ग्रंथियाँ, तीन व्याहृतियाँ। एक प्रणव—बड़ी ब्रह्म ग्रंथि। देव-संस्कृति की आत्मा को यज्ञोपवीत की प्रत्यक्ष प्रतिमा मानकर, शरीर रूपी मंदिर में उसकी धारणा-प्रतिष्ठापना कराई जाती है। कंधा उत्तरदायित्व का, हृदय भावना का, कलेजा साहस का और पृष्ठ भाग कर्मठता का प्रतीक माना जाता है, इन चारों अवयवों के ऊपर घुमाते हुए यज्ञोपवीत पहना जाता है और समझा जाता है कि इस महामंत्र में सन्निहित प्रेरणाओं से जीवन-क्रम को पूरी तरह जकड़ दिया गया है।

तीन लड़ों में शारीरिक, मानसिक और सामाजिक क्षेत्र को समुन्नत बनाने वाले संकेत सूत्र हैं। गायत्री के प्रथम चरण को

शारीरिक, दूसरे को मानसिक और तीसरे को सामाजिक सुव्यवस्था का मार्ग दर्शक कहा जा सकता है। नौ गुण प्रसिद्ध हैं। नौ धागों में उन नौ गुणों का मार्ग दर्शन भरा पड़ा है, जो उपरोक्त तीनों ही जीवन पक्षों को समुन्नत एवं सुसंस्कृत बना हैं। भूतकाल में भारतीय नागरिक इन नौ गुणों से सुसंपन्न बनते और देव मानव कहलाते थे। नवयुग का अवतरण उसी सतयुग के अनुरूप होगा। इसलिए आस्थाएँ एवं परंपराएँ भी प्राचीन काल जैसी ही अपनानी पड़ेंगी। शरीर, मन और अंतःकरणों को उन्हीं महान सद्गुणों में ढालना पड़ेगा, जिनकी प्रामाणिकता और उपयोगिता गौरव भरे अतीत में सुनिश्चित रूप से जानी जा चुकी है।

गुण व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं। तत्त्व दर्शन अंतराल की आस्थाओं में प्रतिष्ठित रहता है और उसकी प्रेरणा से मनन संस्थान की विचारणा एवं काय-कलेवर की गतिविधियाँ काम करती रहती हैं। गायत्री का तत्त्व दर्शन पक्ष तीन व्याहृतियों में सन्निहित हैं। भूः को आस्तिकता, भुवः को आध्यात्मिकता एवं स्वः को धार्मिकता कहा गया है। ब्रह्म विद्या का, विस्तार इसी क्षेत्र तक सीमित है। उसकी विवेचना में इन्हीं तीन प्रसंगों की चर्चा होती है।

मार्ग दर्शन—व्यवहार पक्ष में, यज्ञोपवीत के माध्यम से जिन नौ गुणों की गरिमा समझाई गई है, उन्हें भी तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। शरीर क्षेत्र में—श्रम, व्यवस्था, संयम, मनःक्षेत्र में—विवेक, साहस, स्वावलंबन। समाज क्षेत्र में—एकता, समता, सहकारिता। इन नौ सूत्रों के आधार पर ही व्यक्ति और समाज के आचार, व्यवहार का निर्धारण होता है। तत्त्व दर्शन का प्रयोजन आस्थाओं का निर्माण करना है। अध्यात्म आस्थाओं में आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता की त्रिवेणी का ऊपर की पंक्तियों में वर्णन हो चुका है।

आस्थाएँ ही व्यक्तित्व का मूल हैं। उन्हीं का स्तर व्यक्तित्व है। **"श्रद्धा मयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एवास"** की सूक्ति में यही बताया गया है कि व्यक्ति वही है, जो उसकी श्रद्धा। श्रद्धा एवं

आस्था का उच्चस्तरीय निर्माण ही नवयुग के सूत्रपात का शुभारंभ है।

मनुष्य में देवत्व के उदय की प्रक्रिया ही धरती पर स्वर्ग का अवतरण कर सकेगी। नवयुग के यही दो आधार हैं। उन्हें पूरा करने के लिए सर्वप्रथम मनुष्य के व्यक्तित्व को उच्चस्तरीय बनाना होगा। इसके लिए उसके अस्तित्व का केंद्रबिंदु ही सँभालना, सुधारना होगा। आस्थाओं का स्तर ऊँचा उठा देना ही वह कार्य है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति की उत्कृष्टता और प्रखरता में प्रगति हो सकती है और उसे तेजस्वी एवं यशस्वी बनने के अवसर पग-पग पर मिल सकते हैं।

कहा जा चुका है कि त्रिपदा के आस्था क्षेत्र में प्रवेश कर पाने पर उसके अंतःकरण में इन तीन विश्वासों का प्रादुर्भाव एवं परिपाक होने लगता है। गायत्री मंत्र के व्याहृति भाग को ब्रह्म विद्या कहा गया है। भूः, भुवः और स्वः को त्रयी विद्या के नाम से जाना जाता है। इन तीनों में प्रथम है—आस्तिकता। द्वितीय आध्यात्मिकता और तृतीय धार्मिकता। इन तीनों को भक्तियोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग के अंतर्गत भी गिना जाता है। उन्हीं की व्याख्या, श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा के रूप में सुविस्तृत विवेचन के साथ होती रहती है। इन समस्त परिचर्चाओं में गायत्री मूलक ब्रह्म विद्या को ही व्याख्या, विस्तार समझा जा सकता है।

आस्तिकता का अर्थ है—ईश्वर विश्वास। ईश्वर विश्वास अर्थात उसकी न्याय परायणता पर विश्वास-कर्मफल की सुनिश्चितता पर सघन आस्था। भले-बुरे कर्मों का फल मिलने में विलंब होने से मनुष्य सत्कर्मों की सुखद प्रतिक्रिया और कुकर्मों की परिणति दुःखद दुर्गति होने के तथ्य पर से डगमगाने लगता है। बाल बुद्धि को विलंब असह्य होता है। वह तुर्त बीजारोपण और फुर्त फलदार वृक्ष की अपेक्षा करती है। देर लगते ही बागवानी पर से उसी रुचि हठ जाती है। हथेली पर सरसों न जमे तो बच्चे कृषि विज्ञान को ही चुनौती देने लगते हैं। आस्तिकता के सिद्धांत ईश्वर

को सर्वव्यापी और न्यायकारी होने का विश्वास दिलाते हैं और समझाते हैं कि देर तो होती है, पर अंधेर नहीं है। इस मान्यता को अपनाने वाला न तो गुप्त पाप कर पाता है और न प्रकट में उसके लिए उसका दुस्साहस उभरता है। पुनर्जन्म-स्वर्ग-नरक की मान्यताएँ भविष्य में कर्मफल मिलने का आश्वासन देती हैं। फलतः आस्तिकता से प्रभावित व्यक्ति की नैतिकता अक्षुण्ण बनी रहती है। व्यक्ति के जीवन परिष्कार में यह एक महती उपलिब्ध है। इस विश्वास के कारण पतन के गर्त में गिराने वाले कदम ही लौह शृंखला से जकड़ जाते हैं और भविष्य अंधकारमय बनने से बच जाता है। साथ ही सत्प्रयोजनों के प्रति भी उत्साह शिथिल नहीं होने पाता। किसान, विद्यार्थी, व्यापारी आदि सभी अपने परिश्रम का प्रतिफल पाने में मिलने वाली देरी लगते हुए भी विचलित नहीं होते फिर आस्तिकता की आस्था रहते हुए किसी मनुष्य को कर्मफल में विलंब होने से अधीरता क्यों होगी ?

परमात्मा और आत्मा के परस्पर मिलने की प्रतिक्रिया बिजली के ठंडे, गर्म तारों के मिलने पर उत्पन्न होने वाली चिनगारियों जैसी होती है। आत्मा में परमात्मा का अवतरण होते ही सद्भावना, सद्विचारणा एवं सत्प्रयत्नों की चिनगारियाँ उछलने लगती हैं। वर्षा ऋतु आने पर सर्वत्र हरियाली उग पड़ने की तरह सत्प्रवृत्तियों से समूचा जीवन क्षेत्र भर जाता है। भक्ति का अर्थ है—प्यार। ईश्वर भक्ति अर्थात आदर्शों के प्रति अनन्य निष्ठा। ईश्वर भक्ति के माध्यम से किया गया प्रेम भावना के विकास-विस्तार का अभ्यास जब परिपक्व होता है, तो प्राणि मात्र के प्रति आत्मीयता की दिव्य संवेदनाएँ विकसित होती हैं। फलतः हर किसी से केवल सद्व्यवहार का आचरण ही बन पड़ता है। ईश्वर के अवतरण, प्रसंगों में मनोयोग लगने से यह विश्वास जमता है कि धर्म की स्थापना और अधर्म के विनाश की प्रवृत्ति एक मात्र वह कसौटी है, जिसके आधार पर मनुष्य से ईश्वर के अवतरण का अनुपात जाना जा सकता है। इष्टदेव की पूजा-अर्चना का तात्पर्य है—देवत्व की ओर

अंतरात्मा को उन्मुख और अग्रसर करना। किस साँचे में अपने को ढालना है, इसका निर्धारण ही इष्टदेव का चयन एवं वरण है। विश्वव्यापी चेतना में ईश्वर का दर्शन करना—विराट दर्शन कहलाता है। इसका तात्पर्य है अपने विश्व ब्रह्मांड को परमात्मा की प्रत्यक्ष प्रतिमा मानना और प्राणियों के प्रति सदाचरण और पदार्थों के सदुपयोग का निरंतर ध्यान रखना। ऐसे-ऐसे असंख्यों आस्थापरक लाभ ईश्वर विश्वास के हैं। यदि सही रीति से सही आराधना—सही प्रयोजनों के लिए की जाय तो उसका भरपूर लाभ आस्तिक व्यक्ति को तथा समूचे समाज को मिलना सुनिश्चित है।

त्रिपदा का दूसरा दार्शनिक चरण है—आध्यात्मिकता। आध्यात्मिकता अर्थात अपने वास्तविक स्वरूप एवं उद्देश्य का ज्ञान। इसका उदय होते ही आत्मावलंबन एवं आत्मगौरव की अनुभूति होती है। आत्मावलंबन अर्थात आत्म निर्भरता। आत्म-निर्माण का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर ओढ़ना। अपनी परिस्थितियों का कारण मनःस्थिति को मानना और बहिरंग क्षेत्र की प्रगति के लिए प्रयासों का आरंभ आत्मिक क्षेत्र में अभीष्ट सत्प्रवृत्तियों को व्यवहार अभ्यास में उतारना। आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण एवं आत्म-विकास के चार अवलंबन अपनाकर, आत्मिक प्रगति की सर्वांगपूर्ण व्यवस्था जुटाई जाती है।

अपना दृष्टिकोण बदलने से परिस्थितियों के मूल्यांकन और उनसे निपटने के निर्धारण में होती रहने वाली भयंकर भूलों का सिलसिला बंद हो जाता है। फलतः जीवन-क्रम में ऐसा बदलाव आता है, मानो किसी ने काया-कल्प करके रख दिया हो। अपने को दरिद्र, अभावग्रस्त, हेय स्थिति में पड़ा हुआ मानना पूर्णतया सापेक्ष है। संपन्नों के साथ तुलना करने पर अपनी स्थिति विपन्नों जैसी लगती है और विपन्नों के साथ तोलने से लगता है अपनी जैसी संपन्नता भी बहुत कम भाग्यवानों को मिल पाती है। अपने अभावों को गिनते रहने और दूसरों के अपकारों को सोचते रहने से लगता है नरक में पड़े हैं। आशंकाओं, संदेहों और कुकल्पनाओं से,

मस्तिष्क भरे रहने से हर घड़ी यही लगता रहता है कि विपत्ति के बादल अब टूटे-तब टूटे। संसार दर्पण की तरह है इसमें प्रायः अपना ही प्रतिबिंब दिखाई पड़ता है। अपने गुण, कर्म, स्वभाव की श्रेष्ठता और निकृष्टता ही बाहर का सहयोग और विरोध आमंत्रित करती रहती है। मनुष्य अपने ही अंतराल की प्रतिध्वनि चारों ओर गूँजती हुई सुनता है। अपनी ही विकृतियाँ भूत-पिशाच का रूप धारण करके डराती, धमकाती रहती हैं।

युग-परिवर्तन का श्रीगणेश 'हम बदलेंगे युग बदलेगा' के उद्घोष से आरंभ होता है। इसमें व्यक्ति के बदलने से समाज बदलने की संभावना व्यक्त की गई है। मनःस्थिति की प्रतिक्रिया परिस्थिति के रूप में दृष्टिगोचर होने की बात कही गई है। इसे आत्म-निर्माण का अभियान भी कह सकते हैं। आध्यात्मिकता ही आत्मज्ञान है। आत्म-गौरव को अक्षुण्ण रखने वाला चिंतन और कर्तृत्व बनाये रहने की इसमें प्रेरणा है। आत्मावलंबन, स्वावलंबन की अंतःचेतना को जगाने की दिव्य प्रेरणा भी इसे समझा जा सकता है। त्रिवेणी की दूसरी धारा इस आध्यात्मिकता की तत्त्व दृष्टि को ही कहा गया है।

तीसरी धारा है धार्मिकता। धर्म-निष्ठा अर्थात कर्त्तव्य-परायणता है। अपने कृत्यों की, उद्देश्य की ईमानदारी-संबंधित व्यक्ति के प्रति वफादारी और करने की प्रक्रिया में जिम्मेदारी का समावेश किया जाय तो 'कर्म ही पूजा है' का सिद्धांत अक्षरशः सही सिद्ध हो सकता है। काम करते समय यह ध्यान रखा जाये कि इसमें आदर्शों का हनन एवं नीति मर्यादाओं का उल्लंघन तो नहीं होता। लोभ, मोह से प्रेरित होकर ऐसा कुछ तो नहीं किया जा रहा है, जिसके औचित्य पर उँगली उठाई जा सके। हर कृत्य ऐसा होना चाहिए, जिससे आत्म-संतोष मिलता हो। आत्म-गौरव बढ़ता हो और समाज का हित होता हो। धर्म-मर्यादाओं का निर्धारण मनीषियों द्वारा उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया

हो। इनके परिपालन की निष्ठा अपनाई और सुदृढ़ बनाई जानी चाहिए।

धर्म के दो पक्ष हैं—एक श्रेष्ठता का संवर्धन, दूसरा निकृष्टता का निराकरण। स्थापना एवं अभिवर्धन के लिए रचनात्मक प्रयास करने होते हैं और उन्मूलन के लिए असहयोग, विरोध एवं संघर्ष की नीति अपनानी होती है। भगवान के अवतारों में यह संस्थापन और उन्मूलन के दोनों ही तत्त्वों को समान महत्त्व दिया गया है। धर्म प्रेमी को जहाँ सदाचरण एवं परमार्थ का आदर्श अपनाना होता है, वहाँ अनैतिकता, अवांछनीयता एवं मूढ़-मान्यता के अनाचार का डटकर विरोध भी करना पड़ता है। धर्म धारणा का ही एक अंग धर्म युद्ध भी है।

अपने शरीर, मन और आत्मा के प्रति, परिवार और समाज के प्रति, ईश्वर और आदर्शों के प्रति, अपने कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्वों का अविचल भाव से पालन करते रहना धार्मिकता है। ब्रह्मविद्या का, गायत्री तत्त्व ज्ञान का तीसरा चरण यही धार्मिकता है। इसे त्रिपदा, त्रिवेणी की तीसरी धारा कहा गया है।

मानवी आस्थाओं के निर्माण में इन तीनों तथ्यों की प्रतिष्ठापना अंतःकरण में इतनी गहराई तक होनी चाहिए कि वे सघन विश्वासों के रूप में परिलक्षित होने लगें। लक्ष्य और व्यक्तित्व बन जायँ। आकांक्षाएँ इन्हीं से प्रेरित हों।

युगशक्ति गायत्री का तत्त्व दर्शन इन्हीं तीन धाराओं में प्रवाहित होता है। व्यक्ति और समाज की अभिनव संरचना में आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता के तीनों ही तथ्यों का प्रयोग उपयोग करना होगा। जन-मानस का परिष्कार इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति कर सकने योग्य हो सके, यही ध्यान में रखना होगा। गायत्री तत्त्व ज्ञान में इन्हीं त्रिविध प्रेरणाओं का सघन समावेश है।

❐ ❐

गायत्री की प्रथम प्रेरणा—श्रम, व्यवस्था और संयम

❋

त्रिपदा गायत्री के तीन पादों में से प्रथम पाद—प्रथम खंड आठ अक्षरों का है। उसमें तत् सवितुः वरेण्यं यह तीन शब्द आते हैं। इन्हें शिक्षा की दृष्टि से स्थूल शरीर से संबंधित माना गया है। स्थूल शरीर का तात्पर्य है—हाड़-मांस से बनी हुई—सोने खाने वाली काया। बाहर से यह चलते-फिरते खिलौने जैसी दीखती है। उसमें सुंदरता, उपार्जन और रसानुभूति के कई तंत्र जहाँ-तहाँ जुड़े देखे जा सकते हैं। इसे अन्न, जल, वायु की खुराक देनी पड़ती है, साथ ही मल-मूत्र, पसीना आदि के रूप में निकलते रहने वाले कूड़े-करकट की सफाई करनी होती है। मोटी बुद्धि से स्थूल शरीर का इतना ही स्वरूप और उपयोग दिखाई पड़ता है।

गहराई में उतरने पर उसमें तीन विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं। इन विशेषताओं के आधार पर ही वे सुविधा-साधन मिलते हैं, जिन्हें संपत्ति एवं साधन-सुविधा के नाम से पुकारा जाता है। भौतिक क्षेत्र की सफलताएँ इसी आधार पर आँकी जाती हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिए शरीर के अंतराल में तीन ऐसे तत्त्वों का समावेश है, जो आमतौर से प्रसुप्त-अनभ्यस्त और अनगढ़ स्थिति में पड़े रहते हैं। उनकी ओर ध्यान भी नहीं जाता और उनके जाग्रत करने का प्रयत्न भी नहीं होता। पर यदि उन्हें जगाया, बढ़ाया और स्वभाव में सम्मिलित किया जा सके तो समझना चाहिए कि भौतिक प्रगति का अवरुद्ध मार्ग खुल गया है और भाग्योदय की खोई हुई चाबी हाथ लग गई। इन तीन सद्गुणों का नाम है—(१) श्रम (२) व्यवस्था (३) संयम। इनका महत्त्व समझा जा सके और शरीर को इनमें रस लेने—आदत के रूप में स्वीकार करने के लिए सहमत किया जा सके तो समझना चाहिए कि आरोग्य, दीर्घजीवन, सौंदर्य, कौशल एवं उपार्जन जैसी सफलताएँ प्राप्त करने का दैवी वरदान मिल

गया। संयम और वैभव एक ही सिक्के के दो पहलू मात्र हैं। ईश्वर ने शरीर रूपी रत्नाकर में जो मणिमाणिक भर दिये हैं, उन्हें शरीर साधना के द्वारा खोजा और पाया जा सकता है। स्थूल शरीर का प्रत्यक्ष देवता अपनी उपासना के लिए जिन उपचारों की अपेक्षा करता है और जिनके प्राप्त होने पर भौतिक प्रगति के अनेक पक्षों का वरदान देता है, उनका नाम उपरोक्त पंक्तियों में कहे अनुसार श्रम, व्यवस्था एवं संयम ही कहा जा सकता है।

व्यक्ति में तत्त्वतः समर्थता के अगणित आधार भरे पड़े हैं और उनका उपयोग कर सकने वाले अनायास ही वैभववान बनते चले जाते हैं। उन्हें निजी रूप से आरोग्य और सांसारिक रूप से साधनों की कमी नहीं रहती। इन दोनों से वंचित वे रहते हैं, जो इन सत्प्रवृत्तियों को अपनाने में आना-कानी करते हैं। आलसी, प्रमादी और असंयमी ही पिछड़ेपन की स्थिति में पड़े रहते हैं और दुर्गति सहते हैं। श्रमशीलता का विरोधी पक्ष आलस्य है और व्यवस्था का प्रतिपक्ष प्रमाद। अनुशासन और नियंत्रण का महत्त्व न समझने वाले असंयमी एवं अपव्ययी कहलाते हैं। आलस्य के कारण उपार्जन नहीं बन पड़ता। प्रमाद के कारण साज सँभाला नहीं हो सकती और नियंत्रण का अभ्यास न होने पर जो हाथ में आता है, वह या तो व्यर्थ चला जाता है या फिर ऐसे परिणाम उत्पन्न करता है, जिन्हें अनर्थ कहा जा सके। आलस्य, प्रमाद और असंयम का त्रिवर्ग शरीर पर छाया हुआ प्रत्यक्ष अभिशाप है। उनके रहते किसी की भी प्रगति नहीं हो सकती, कोई भी साधन संपन्न नहीं पाया जा सकता है।

प्रगतिशीलता के इतिहास में हर सफल व्यक्ति में यह तीनों विशेषताएँ अनिवार्य रूप से पाई जाती हैं। वे कठोर परिश्रम करते हैं, बेगार भुगतने की तरह काम नहीं करते वरन् उसमें रस लेते हैं। वे जानते हैं कि लक्ष्मी प्राप्त करने की साधना श्रम बिंदुओं का अर्घ चढ़ाने से ही बन पड़ती है। आलसी तो साक्षात दरिद्री ही होते हैं। इसी प्रकार प्रगतिशीलों द्वारा व्यवस्था बुद्धि का समुचित विकास किया होता है। वे अपने काम में पूरी तरह जागरूक रहते हैं।

शारीरिक तत्परता की तरह किसी काम को समग्र बनाने के लिए तन्मयता भी आवश्यक है। मनोयोग के अभाव में श्रम का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता, उसकी तुलना अश्व शक्ति की तराजू में तोलकर की जा सकती है। काम में चमत्कार तो तब दिखाई पड़ता है, जब उसमें रुचि पूर्ण मनोयोग भी लगता है। तत्परता का अर्थ है—श्रमशीलता और तन्मयता का तात्पर्य है रुचि और उत्साह से भरा-पूरा मनोयोग। जहाँ भी इन दोनों का समन्वय होगा, वहाँ किए हुए काम का स्तर बहुत बढ़ा-चढ़ा होगा। उसका मूल्यांकन सामान्य परिश्रम की तुलना में कहीं अधिक ऊँचा किया जायेगा। मानसिक जागरूकता और तन्मयता को ही दृश्य रूप में 'व्यवस्था' कहा जाता है। योग्यताओं में सर्वोच्च स्तर व्यवस्था शक्ति का ही है। शासन में इसी को ला एंड आर्डर कहते हैं। कल-कारखानों में इसी का परिचय सुव्यवस्था के रूप में मिलता है। उपहासास्पद तो आलसी प्रमादी बनते हैं। उन्हीं की तुलना अपंगों और विक्षिप्तों से की जाती है। संपत्ति का अर्थ है भौतिक क्षेत्र की सफलता। वह समर्थता के रूप में देखी जा सकती है और उसके फलस्वरूप अभीष्ट पक्ष को उत्साहवर्धक सफलता मिल सकती है। संपत्ति का यही आधार है। वैभव इसी आधार पर कमाया जाता है। यह उपार्जन शरीर को श्रमशील और मन को सामने आये काम में पूरा रस लेने का अभ्यस्त बनाने से ही बन पड़ता है। शरीर और मन की तत्परता में जितनी कमी रहेगी, उतनी दरिद्रता और असफलता की विपत्ति मनुष्य पर छाई रहेगी। लगता है दुर्भाग्य कहीं ऊपर से उतरता है, पर वस्तुतः वह अपने भीतर का ही अशुभ उत्पादन होता है। आकस्मिक और अप्रत्याशित विपत्तियाँ तो कदाचित ही कहीं-कहीं, कभी-कभी ही दृष्टिगोचर होती हैं।

वर्षा का पानी आमतौर से जिधर-तिधर बहता हुआ अंततः समुद्र में जा पहुँचता और खारी बन जाता है, किंतु यदि उसे बाँध में बाँध लिया जाय तो सिंचाई से लेकर बिजली बनाने तक के अनेकों उपयोगी कार्य उससे पूरे होते हैं। भाप आमतौर से हवा में उड़ती और

छितराती रहती है, पर थोड़ी-सी भाप का यदि संग्रह और उपयोग किया जा सके, तो उससे रेलगाड़ी का इंजन दौड़ाने जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हो सकते हैं। "छलनी में दुहना और भाग्य को दोष देना" की उक्ति असंयमी लोगों पर ही लागू होती है।

इंद्रिय शक्ति को बर्बाद करते रहने वाले दुर्बल बनते जाते हैं और रुग्ण बनकर रोते-कलपते अकाल मृत्यु के मुँह में जा घुसते हैं। मनःशक्ति को एकाग्र न करने वाले अपने कामों की उपेक्षा करते और निरर्थक कल्पनाओं में उड़ते रहते हैं। फलतः हाथ में लिए काम अधूरे रहते हैं, उपहासास्पद बनते हैं। असफलताजन्य लज्जा ऐसे ही लोगों को सहनी पड़ती है। अर्थ शक्ति में अपव्यय के तत्त्व जुड़ जाने से अच्छी आमदनी भी व्यर्थ की बातों में नष्ट होती रहती है और दरिद्रता का अभिशाप लदा रहता है। आवश्यक काम सामने आने पर हाथ खाली दीखता है और ऋण लेने अथवा बेईमानी करने का सर्वनाशी कदम उठता है। श्रम शक्ति को किसी नियत काम पर केंद्रित न करने वाले ऐसे ही बंदरों की तरह जिस-तिस काम पर उचक-मचक करते रहते हैं और प्रायः सभी कामों को अधूरा छोड़ देते हैं। ऐसे लोगों से काम कराने की अपेक्षा काम न कराना अधिक अच्छा समझा जाता है। यह समस्त दुष्परिणाम विभिन्न प्रकार के असंयमों के ही हैं। अपव्यय से तो कुबेर का भंडार भी खाली हो सकता है। श्रम, समय, बल, मन, धन आदि की कितनी उपयोगी समर्थताएँ मनुष्य के पास प्रकृति के अजस्र अनुदान की तरह प्रचुर परिमाण में मिली हुई हैं किंतु इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि उन सबकी असंयम में बर्बादी होती रहती है और मनुष्य दीन-दरिद्रों की तरह दुःख पाता और तिरस्कार सहता रहता है। असंयम को नियंत्रण के अभाव में व्यक्तिगत जीवन का अभिशाप ही माना जा सकता है। अनुशासनहीन की स्थिति कितनी दयनीय होती है इसे सभी जानते हैं ?

त्रिपदा गायत्री के प्रथम पाद के तीन शब्दों का—"तत्सवितु-वरेण्यं" का तात्पर्य है। वह वरण करने

योग्य—अपनाने योग्य सविता। सविता अर्थात् सूर्य। सूर्य से ग्रहण करने योग्य अपनाने योग्य प्रेरणाएँ क्या-क्या हैं ? इन्हें सहज चिंतन से भली भाँति जाना जा सकता है। सूर्य का अथक श्रम और जागरूक मनोयोग स्पष्ट है। वह अहर्निश-अनवरत श्रम में संलग्न रहता है। यही वरेण्य है, यही अनुकरणीय और अपनाने योग्य है।

आत्म संयम, नियमन, नियंत्रण, आत्मानुशासन की क्रम व्यवस्था सूर्य की गतिविधियों में कूट-कूटकर भरी हुई है। निर्धारित समय पर उदय और अस्त होना—अपनी भ्रमण कक्षा में बाल बराबर भी अंतर न होने देना सौर-परिवार के ग्रह-उपग्रहों को अपने साथ बाँधे रहना और उन्हें उचित अनुदान देना जैसी रीति-नीति अपनाने वाले सविता के बारे में यही कहा जायेगा कि वे स्वयं अनुशासन में रहते हैं और संबद्ध परिवार को अनुशासन में रखते हैं। संयम और अनुशासन लगभग समान स्तर की ही सुव्यवस्था का बोध कराते हैं।

मानवी संज्ञा की तीन परतें हैं—(१) स्थूल (२) सूक्ष्म (३) कारण। इन्हें त्रिपदा गायत्री का क्षेत्र विस्तार कहा गया है। तीन लोक भी यही हैं। प्रथम चरण को स्थूल शरीर की उपमा दी जा सकती है और उसके अंतर्गत जुड़े हुए तीन शब्दों में श्रम, मनोयोग एवं संयम का संकेत और संदेश ग्रहण किया जा सकता है।

इन तीन सत्प्रवृत्तियों को व्यक्तिगत जीवन की प्रगति का आधार भूत कारण माना जा सकता है। समर्थता भले ही भौतिक क्षेत्र की प्राप्ति करनी हो, भले ही आत्मिक क्षेत्र की अभीष्ट हो। इन तीनों को अपनाया जाना हर दृष्टि से आवश्यक है। आलस, प्रमाद और असंयम बरतने वाला न तो समृद्ध बन सकता है और न आत्मबल संपन्न। दूसरों के सहयोग एवं दैवी अनुग्रह प्राप्त करने से मनोरथ पूरे होने की बात सोची जाय तो भी यह मानना पड़ेगा कि इस प्रकार के अनुदान भी पात्रता के अनुरूप ही मिलते हैं और वह पात्रता शारीरिक क्षेत्र में श्रमशीलता, जागरूकता एवं अनुशासन

अपनाये बिना उग ही नहीं सकती। वैयक्तिक, भौतिक प्रगति के लिए स्थूल शरीर की स्थिति को समुन्नत बनाया जाना आवश्यक है और यह उपरोक्त तीन गुणों के संचय अनुपात से ही उपलब्ध होता है।

युग-परिवर्तन से मनुष्य में देवत्व का उदय होगा। इसके लक्षण उसके स्थूल जीवन में उपरोक्त तीन सत्प्रवृत्तियों की बढ़ी-चढ़ी मात्रा के अनुसार ही जाने-आंके जा सकेंगे। समूह व्यवस्था में भी इन्हीं तीन गुणों को सार्वजनिक मान्यता देनी होगी और इन्हें व्यक्ति की उत्कृष्टता का चिह्न मानकर, उन्हें लोक-सम्मान प्रदान करना पड़ेगा। नवयुग में श्रमनिष्ठा की सराहना होगी। जागरूक लोगों को सम्मान मिलेगा और अनुशासन प्रिय लोगों की अग्रिम पंक्ति में खड़ा किया जायेगा। वे ही सार्वजनिक नेतृत्व करेंगे। युग क्रांति के अनुरूप ढले हुए व्यक्तियों में से प्रत्येक को परिश्रमी, उत्साही और आत्मानुशासित देखा जा सकेगा।

❐❐

गायत्री की द्वितीय प्रेरणा—सद्विवेक, सत्साहस और स्वावलंबन

त्रिपदा गायत्री का दूसरा पाद है—'भर्गो देवस्य धीमहि' आठ अक्षरों के इस द्वितीय चरण में भी पहले पाद की तरह तीन शब्द हैं—'भर्गः देवस्य धीमहि' भर्ग कहते हैं तेजस्वी को, देव, दिव्य, उत्कृष्ट, आदर्श, धीमहि-अंतरंग में धारण किया जाना-हृदयंगम होना-चेतना में घुल जाना। भावार्थ हुआ—दैवी तेजस्विता का अंतःकरण में घुल जाना।

दैवी तेजस्विता क्या है ? इसे सद्विवेक, सत्साहस और आत्म-गौरव के उत्कृष्ट चिंतन के साथ समाविष्ट समझा जा सकता है। यह तीनों ही सत्प्रवृत्तियाँ सूक्ष्म शरीर में पाई जाती हैं। सूक्ष्म शरीर अर्थात् मनःसंस्थान-विचार क्षेत्र-चिंतन की परिधि प्रक्रिया। इसे ज्ञान कक्षा भी कह सकते हैं। यह तीनों ही सत्प्रवृत्तियाँ इसी उद्यान में उगती हैं। ये जहाँ भी उगती हैं, वह सारा क्षेत्र चंदन के बगीचे की तरह महँकने लगता है।

लोक व्यवहार इन दिनों सत्-असत् के परस्पर विरोधी तत्त्वों में इस कदर घुल गया है कि दूसरों के कथन, अनुकरण एवं प्रथा-प्रचलन को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। विवेकपूर्वक इसका प्रथक्करण कराना होगा। उचित-अनुचित को अलग करके मात्र उपयोगी को ही ग्रहण करने की दूरदर्शिता अपनानी होगी। इसके बिना जो कुछ चल रहा है, उसी ढर्रे पर घूमने लगने से तो सब कुछ गुड़ गोबर ही होता रहेगा। गुड़ खाने के काम आता है और गोबर लीपने के। दोनों को मिला देने से वह मिश्रण किसी काम का नहीं रहता। पूर्णतया निरर्थक बन जाता है, उसे न खाने के काम में लिया जा सकता है और न लीपने के। ठीक इसी प्रकार प्रचलित लोक-व्यवहार में सदाचार और भ्रष्टाचार का ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि उसमें से कुछ भी वेखटके ग्रहण करने योग्य नहीं बच गया है। इन खरे-खोटे सिक्कों के ढेर में

ढालने के लिए परख कसौटी का उपयोग किए बिना कोई गति नहीं। यह आवश्यकता रहती तो प्राचीन काल में भी थी, पर आज की विषम परिस्थितियों में तो विवेक के द्वारा परीक्षण प्रथक्करण किए बिना और कोई चारा है ही नहीं।

गायत्री का वाहन है—राजहंस। राजहंस की विशेषता है नीर-क्षीर विवेक। दूध और पानी के सम्मिश्रण में से पानी को पृथक करके मात्र दूध को ही ग्रहण करना। इसी प्रकार उसका एक और सहज स्वभाव माना जाता है, मात्र मोती ही चुगना—कीड़े-मकौड़े जैसी तुच्छ वस्तुओं को प्राण संकट आने पर भी ग्रहण न करना। गायत्री माता का वाहन राजहंस वस्तुतः विवेक का ही अलंकारिक चित्रण है। पक्षी वर्ग की इस आकृति को देखकर यही आदर्श अपनाया जाना चाहिए कि विवेकशीलता अपनाई जायेगी। अनुचित को त्यागा और उचित को ग्रहण किया जायेगा। विवेक की कसौटी है—दूरदर्शिता। अदूरदर्शी तात्कालिक लाभ को ही प्रधानता देते हैं भले ही उससे उनका भविष्य अंधकारमय ही क्यों न होता हो ? दूरदर्शी आज की कठिनाई सहकर भी कल का उज्ज्वल निर्माण करते हैं। किसान, विद्यार्थी, शिल्पी, कलाकार, श्रमिक, व्यवसायी, योगी, सभी को आरंभ में कठिनाई सहने और हानि उठाने का मनोबल जुटाना पड़ता है, तभी उनका भविष्य उज्ज्वल बन पाता है। अदूरदर्शी पुस्तकें और बीज बेचकर भी सिनेमा देख सकते हैं और भविष्य को अंधकारमय बनाने का जोखिम उठा सकते हैं।

आज व्यक्ति और समाज के सामने जो अगणित समस्याएँ और विपत्तियाँ मुँह बाये खड़ी हैं, उनके मूल में अदूरदर्शिता ही उपद्रवों का सृजन करती देखी जा सकती है। स्वार्थ पर परमार्थ को निछावर किया जा रहा है। आस्थाओं का संकट, चरित्र का पतन और उदारता का अभाव ही विश्व संकट के रूप में मानवी अस्तित्व को चुनौती दे रहा है। साधनों का बाहुल्य रहने पर भी मनुष्य को जिन सर्वभक्षी विभीषिकाओं का सामना करना पड़ रहा है, उसे दृष्टिकोण में निकृष्टता का समावेश ही कहा जायेगा। स्थिति को बदलने के लिए

जन-मानस का परिष्कार ही एक मात्र उपाय है। युग-निर्माण मिशन की लाल मशाल की ज्योति इसी उद्देश्य के लिए जलाई गई है। ज्ञान-यज्ञ का धर्मानुष्ठान इसी प्रयोजन के लिए है। विचार क्रांति अभियान के अंतर्गत बौद्धिक, नैतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों के लिए प्रचंड प्रयास चल रहा है। इस सुविस्तृत क्रिया-कलाप को संक्षेप में विवेकशीलता की अभिनव प्राण प्रतिष्ठा ही कहा जा सकता है। प्रियजनों के परामर्श एवं प्रस्तुत प्रचलनों के प्रभाव को निरस्त करके मात्र औचित्य को ही अपनाना। यही सत्याग्रह है। इसी को विवेक की अभ्यर्थना कह सकते हैं। सत्य के सही स्वरूप को समझना एवं उसे परिस्थितियों के अनुरूप सही रीति से अपनाना विवेक के माध्यम से ही संभव हो सकता है। अन्यथा सत्य की अदूरदर्शी पकड़ कई बार असत्य से भी अधिक हानिकारक हो सकती है। इसी से विवेक को सत्य का पिता माना गया है और उसका माहात्म्य भी इसी आधार पर अधिक माना गया है। गायत्री को ऋतंभरा प्रज्ञा, ब्रह्म विद्या आदि नामों से भी पुकारा जाता है। उसका सरल तात्पर्य आदर्शवादी विवेकशीलता ही समझा जा सकता है।

सूक्ष्म शरीर की—मनःसंस्थान की दूसरी गौरवशाली विशेषता है—सत्साहस। सद्विवेक के आधार पर किये गये निर्णय इसी आधार पर क्रियान्वित होते हैं। पानी का स्वभाव नीचे की ओर ढुलना है। मन के संचित कुसंस्कार भी सहज स्वभाव निकृष्टता की ओर ललचाते और दुष्प्रवृत्तियों के खड्ड में गिरने के लिए उकसाते हैं। उत्कृष्टता की ऊँचाई पर चढ़ने के लिए अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकता होती है। कुएँ से पानी निकालने के लिए, बोझा ऊपर चढ़ाने के लिए, गेंद को ऊपर उछालने के लिए, ऐसा अतिरिक्त मनोबल चाहिए जो आदर्शवादिता अपनाने के लिए प्रचंड साहस का परिचय दे सके। श्रेष्ठता की गतिविधियाँ अपनाने का न तो अपने को अभ्यास अनुभव होता है और न स्वजनों का प्रोत्साहन। समाज में वैसा प्रचलन भी नहीं है। हर दिशा में संकीर्ण स्वार्थपरता की नीति अपनाने का ही परामर्श, मार्ग-दर्शन मिलता है। ऐसी दशा में श्रेष्ठता का मार्ग अपनाने के लिए

एकाकी साहस ही जुटाना होता है और 'अकेला चलो रे' का संकल्प करना पड़ता है। इस दिशा में चलते हुए स्वजनों और परिचितों का व्यंग, उपहास, असहयोग ही नहीं विरोध भी सहना होता है। वे इस प्रकार की साहसिकता को मूर्खता, अव्यावहारिकता और घाटा देने वाली भूल के रूप में देखते हैं और अपने सहज मोह एवं अभ्यस्त प्रचलन के आधार पर ऐसी हिम्मत को अनुचित मानते हैं। फलतः वे निरंतर बाधा ही पहुँचाते रहते हैं। दुर्बल मनःस्थिति रहने पर यह अवरोध देर तक सहन नहीं होता और आदर्शवादी उत्साह धीरे-धीरे ठंडा होते-होते समाप्त ही हो जाता है।

व्यक्ति में देवत्व का उदय और समाज में स्वर्गीय वातावरण का निर्माण आदर्शवादी सिद्धांतों की चर्चा करते रहने से नहीं उसे जीवन दर्शन के रूप में अपनाने और व्यवहार में उतारने से ही संभव है। इसके लिए ऐसी साहसिकता उभरनी चाहिए, जो उत्कृष्टता के मार्ग पर चलते हुए पग-पग पर आने वाले अवरोधों से जूझ सके। एकाकी पर्वतारोहण का संकल्प लेने वालों की तरह शौर्य और पराक्रम का परिचय दे सके। महामानवों की यही रीति-नीति अपनानी पड़ी है। व्यक्तित्व में आदर्शवादिता का बीजारोपण और अभिवर्धन सत्साहस के बिना संभव ही नहीं हो सकता। इस आवश्यकता को पूरा किए बिना उस नवयुग के अवतरण की आशा नहीं की जा सकती, जिसमें देव समाज की, उज्ज्वल भविष्य की अपेक्षा की गई है।

इन दिनों व्यक्तिगत अभिरुचियाँ एवं सामाजिक गतिविधियाँ जिस दिशा में बह रही हैं, उन्हें उलटे बिना सर्वभक्षी विभीषिकाओं से, सामूहिक आत्म-हत्या जैसे महाविनाश से बच सकना संभव नहीं। प्रवाह को उलटने के लिए ऐसी सामर्थ्य चाहिए जैसी पानी की धारा को चीरते हुए उलटी चल सकने वाली मछली में होती है। व्यक्ति की आदतें सुधारनी होंगी, उसकी आस्थाएँ बदलनी होंगी, प्रचलनों को उलटना पड़ेगा। यह कार्य टूटे बर्तनों को आग में गलाकर नये साँचे में ढालने जैसा कठिन है। इसके लिए प्रचंड प्राण ऊर्जा चाहिए। यह कहाँ से आये ? निश्चय ही यह प्रयोजन

सत्साहस अपनाने से ही पूरा हो सकता है। वैयक्तिक और सामूहिक क्षेत्रों में ऐसी साहसिकता उभारने अपनाने की आवश्यकता पड़ेगी, जो अभ्यस्त अवांछनीयता के झाड़-झंखाड़ उखाड़ने और उसके स्थान पर कल्प-वृक्षों का उद्यान लगाने जैसा दुहरे पराक्रम का परिचय दे सके। नये समाज का निर्माण युग का परिवर्तन अवलंबन को अपनाये बिना और किसी तरह संभव नहीं हो सकता।

गायत्री मंत्र के द्वितीय चरण में इसी सत्साहस का आलोक भरा पड़ा है। देवत्व का भर्ग धारण करने की प्रेरणा प्रकारांतर से आदर्शवादी सत्साहस अपनाने का शौर्य प्रदान करती है। इस सत्प्रवृत्ति को अपनाने से ही वे सुधारात्मक और रचनात्मक कार्य बन पड़ेंगे, जिन्हें नव-निर्माण के लिए खड़ा करने और विस्तृत बनाने की आवश्यकता है। देवत्व शब्द की ध्वनि है—मनुष्य के दृष्टिकोण और क्रिया-कलाप में आदर्शवादिता का कूट-कूटकर भर जाना। इसका आधार एक ही हो सकता है—आत्म-गौरव, आत्म-सम्मान। उत्कृष्टता को आत्म-गौरव का प्रश्न बना लेने पर ही किसी के लिए ऐसा साहस कर सकना संभव हो सकता है कि अनुचित मार्ग पर चलने से प्राप्त होने वाले लाभों को अस्वीकार कर सकें। कठिनाइयों को झेलते हुए भी चरित्रनिष्ठा के मार्ग पर चलते ही रहने की हिम्मत दिखा सके।

गायत्री मंत्र के दूसरे चरण में तीन प्रेरणाएँ सन्निहित हैं। सद्विवेक—सत्साहस के अतिरिक्त तीसरी प्रेरणा है स्वावलंबन। इसे आत्म-गौरव की रक्षा भी कह सकते हैं। मनुष्य ईश्वर का राजकुमार है, उसे अपने पिता के राज्य की सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व सँभालना है और इसके लिए नितांत आवश्यक उत्कृष्टता को अपनाये रहना है। जागरूक प्रहरी, उद्यान के माली, सुरक्षा सेनापति, सृजन संलग्न शिल्पी, प्राण संकट से उबारने वाले चिकित्सक, राज्याधिकारी, न्यायाधीश जैसे महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन विशिष्ट व्यक्तियों को अपने उत्तरदायित्व का, पद के गौरव

का ध्यान रखना पड़ता है वैसी ही हर मनुष्य को अपनी जन्म-जात गरिमा को अक्षुण्ण बनाये रहने का प्रयास प्राण-प्रण से करना चाहिए। ईश्वर ने मानव जीवन जैसी महान धरोहर इसीलिए दी है कि उसका सदुपयोग कर व्यक्तिगत अपूर्णता को पूर्णता में बदला जा सके। विश्व उद्यान को सुविकसित बनाने के महान प्रयोजन में स्रष्टा का हाथ बँटाया जा सके। सृष्टि के अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य को जो अतिरिक्त सुविधाएँ मिली हैं, उनका यही प्रयोजन है। बुद्धि और वैभव इसलिए नहीं मिला है कि उससे लाभ और मोह जैसे तुच्छ प्रयोजनों की ललक बढ़ाने और उसी कुचक्र में उलझे रहने की विडंबना से उसे समाप्त कर दिया जाय।

मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप हैं। वह स्वयं ही अपना मित्र और शत्रु है। आत्म-नियंत्रण की परिपूर्ण क्षमता उसमें विद्यमान है। इसका सदुपयोग करके वह अपने व्यक्तित्व को इतना शक्तिशाली बना सकता है कि कठिनाइयों का निराकरण और सुविधाओं के संवर्धन में कोई बाधा शेष न रहे। आत्म-बोध की महिमा अध्यात्म शास्त्रों में विस्तारपूर्वक गाई गई है, इसे स्वावलंबन एवं आत्म-निर्माण ही कह सकते हैं। गायत्री के द्वितीय चरण में इसी दिशा में बढ़ने की प्रेरणा है।

❐ ❐

गायत्री की तृतीय प्रेरणा—एकता, समता, सहकारिता

❋

गायत्री मंत्र का तीसरा चरण है—धियो योनः प्रचोदयात्। धी—सद्बुद्धि, प्रज्ञा। यो-समता। नः-हम सब, सहकारिता। इन तीनों ही विशेषताओं की प्रचंड प्रेरणा के लिए दिव्य शक्ति से प्रार्थना की गई है। संक्षिप्त में यह है—तीसरे चरण का सार और प्रकाश, जिसे इस तत्त्व ज्ञान के समर्थक को हृदयंगम करना ही चाहिए। इन प्रेरणाओं को सामयिक प्रयोग की दृष्टि से (१) एकता (२) समता (३) सहकारिता कह सकते हैं। धियः शब्द में जिस सद्बुद्धि की गरिमा बताई गई है, उसका व्यावहारिक स्वरूप आत्मीयता या एकता ही हो सकता है। बसुधैव कुटुंबकम् का—आत्मवत् सर्वभूतेषु का दर्शन जिस मान्यता और रीति-नीति में चरितार्थ होता है, उसे एकता ही कहना चाहिए।

शरीर शक्ति के सदुपयोग की शिक्षा गायत्री के प्रथम चरण में सन्निहित सिद्धांतों पर अवलंबित है। इसे समृद्धि-संवर्धक कर्मयोग कहना चाहिए। दूसरे चरण में मानसिक क्षमता के अभिवर्धन और उसका श्रेष्ठता के लिए नियोजन करने के सिद्धांतों का समावेश है। इसे ज्ञानयोग कह सकते हैं। गायत्री का तीसरा चरण है—भक्तियोग। भक्ति अर्थात प्रेम। प्रेम अर्थात करुणा, आत्मीयता, उदारता, सेवा। इसी दर्शन की समाजनिष्ठा कहते हैं। इस विश्व को विराट ब्रह्म की मान्यता देकर लोक-मंगल की साधना को ईश्वर भक्ति का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप बताया गया है। कृष्ण ने अर्जुन और यशोदा को राम ने काकभुसुंडि और कौशिल्या को इसी विराट का दर्शन कराया था। ईश्वर भक्ति का दर्शन परमार्थ परायणता की ही पृष्ठभूमि बनाता है।

समाज निर्माण के, विश्व निर्माण के, युग परिवर्तन के तीन आदर्श ऐसे हैं, जिन्हें गौरवास्पद अतीत की तरह उज्ज्वल भविष्य

की संरचना के लिए अनिवार्य रूप से अपनाना पड़ेगा। इन तीनों सिद्धांतों का स्वरूप और प्रयोग जन-जन को समझाना चाहिए। गायत्री तत्त्व ज्ञान का समाज रचना पक्ष इन्हीं आदर्शों के साथ जुड़ा हुआ माना जाना चाहिए। एकता, समता और सहकारिता का दर्शन ही नव-निर्माण प्रयोजनों का आधार होना चाहिए।

एकता का तात्पर्य है विभिन्नताओं और पृथकताओं का यथासंभव घटाते जाने के लिए प्रयत्न आरंभ करना और उस स्थिति तक जा पहुँचना, जिसमें कौटुंबिक एकता को बनाए रहने वाले समस्त प्रमुख सूत्रों का समावेश रह सके। इन दिनों देश, भाषा एवं धर्म की भिन्नता मानवी आत्मीयता, एकता एवं विचारणा में भारी व्यवधान उत्पन्न करती है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि यह वर्ग विभेद घटता चला जाए और हर व्यक्ति विश्व नागरिकता का आनंद एवं लाभ भली प्रकार प्राप्त कर सके। एकता का अभिप्राय यही है।

एकता धर्म की भी होती है। धर्म का तात्पर्य है नैतिक एवं सामाजिक मर्यादाओं का परिपालन, इसे कर्त्तव्यपालन भी कह सकते हैं। धर्म का समूचा कलेवर इसी दृष्टि से बना है और उसका उपयोग सर्वजनीन एवं सार्वभौम है। धर्मशास्त्र के अंतर्गत आने वाली आचार संहिता का तत्त्वदर्शियों द्वारा इसी उद्देश्य के लिए निर्माण किया गया है। मूलतः धर्म की व्याख्या में सत्प्रवृत्तियों का ही वर्णन, विवेचन और प्रतिपादन होता रहा है।

धर्म की छाया में सांप्रदायिकता की कट्टरता अलग से बनती और पनपती चली आई है। यह वस्तुतः देश की, जाति विशेष की परंपराओं, परिस्थितियों और आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर समय-समय पर स्थानीय सुधारकों द्वारा गढ़ी जाती रही है। ऐसे सुधार सामयिक एवं स्थानीय समस्याओं का ही समाधान करते हैं ? उनसे एक सीमित क्षेत्र एवं वर्ग की कठिनाइयों का ही हल निकलता है। समय बीतने पर समाज में अन्य विकृतियाँ उठ खड़ी होती हैं और उनका हल दूसरे ढंग से निकालना पड़ता है। इन्हीं विधि-विधानों को 'संप्रदाय' कहते हैं। वे प्रतिपादन शाश्वत नहीं होते

हैं। इन संप्रदायों की छोटी परिधि में ही नित नये सुधारक उत्पन्न होते रहते हैं और अपने पूर्ववर्तियों की कही बातों में उलट-पुलट करते रहते हैं।

सांप्रदायिक विधि-विधानों की सामयिक उपयोगिता भले ही रही है, उनके संस्थापकों का उद्देश्य कितना ही ऊँचा क्यों न रहा हो, पर वे जब कट्टरता का रूप धारण कर लेते हैं तो अपनी मान्यताओं को पूर्ण सत्य और अन्य मान्यताओं को पूर्ण मिथ्या मानने लगते हैं। इतना ही नहीं दूसरों को अपना अनुयायी बनाने के लिए दबाव भी डालते हैं। यह दबाव कई बार इतने अनैतिक होते हैं कि उनसे धर्म की आत्मा ही काँप उठती है। सांप्रदायिक विद्वेष ने अपने संप्रदाय में दूसरों को दीक्षित करने के प्रयास में से, कितने अनर्थ किये हैं, इसे इतिहास के रक्त-रंजित पृष्ठ पढ़कर कोई भी विचारशील व्यक्ति आँसू ही बहा सकता है और उन्हें मानवी प्रगति में बाधक तक कह सकता है।

जो हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि दार्शनिक विचार भिन्नता के लिए गुंजायश रहते हुए भी नवयुग में सांप्रदायिक संकीर्णता के लिए स्थान नहीं रहेगा। वैयक्तिक आचार-संहिता और सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण समूची मानव जाति की सुविधा और शालीनता को दृष्टि में रखकर करना होगा। यह निर्धारण सार्वभौम ही हो सकता है। इसलिए समस्त विश्व का एक धर्म भी बनकर रहेगा। विश्व निर्माण में एक राष्ट्र, एक भाषा और एक धर्म की तीनों ही आवश्यकताएँ पूरी करनी होंगी। वसुधैव कुटुंबकम् का आदर्श यदि व्यवहार में उतारना हो तो इन त्रिविधि एकताओं को लक्ष्य मानकर चलना और उसके लिए प्रबल प्रयास करना आवश्यक हो जायेगा।

विश्व निर्माण का प्रथम पक्ष एकता और दूसरा समता है। समता में जाति, लिंग और अर्थ की त्रिविधि समताओं का समावेश है। इन दिनों वंश के आधार पर जातियाँ बनी हुई हैं और हर जाति अपने साथ पृथकता की कट्टरता जोड़े हुए है। अपनी जाति के

लोग अपने लगते हैं और दूसरी जाति के बिराने। इतना ही नहीं—अपने लोगों के साथ पक्षपात और पराये लोगों के साथ अनाचार बरतते हुए भी संकोच नहीं होता। रोटी-बेटी से लेकर अन्य प्रकार के आदान-प्रदान भी अपनी-अपनी जाति की परिधि में चलाने को प्राथमिकता दी जाती है। इस वंशगत संकीर्णता का परिणाम संसार भर में जाति विद्वेष के रूप में अनेकों प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न करते देखा जा सकता है। गोरे और काले का, सवर्ण और असवर्ण का भेद कितनी विषमता उत्पन्न करता है और उससे न्याय एवं औचित्य का कितना हनन होता है, इसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। भारत में तो चुनावों तक में इस जातिवादी संकीर्णता का बोलबाला है। विवाह शादियाँ इसी कट्टरता के कारण एक समस्या बन गई हैं। समूचा सामाजिक ढाँचा ही इस जातिगत कट्टरता से चरमरा गया है। वंश विद्वेष के दुष्परिणामों ने भयंकर समस्याएँ रचकर खड़ी कर दी हैं। अपने देश में छूत-अछूत से लेकर जातियों और उपजातियों के बीच पाई जाने वाली प्रथकता और नीच-ऊँच की भावना एक प्रकार से सामाजिक अराजकता, पृथकता एवं विषाक्तता का ही वातावरण उत्पन्न करती चली जा रही है। इसे घटाने और मिटाने पर ही नवयुग की आधारशिला रखी जा सकेगी।

जातिगत विषमता की तरह ही लिंग गत असमता भी दुर्भाग्यपूर्ण है। नर और नारी के बीच बरते जाने वाले भेद-भाव को पग-पग पर देखा जा सकता है। कन्या और पुत्र का अंतर—पर्दा प्रथा, दहेज—बलात वैधव्य घर का सीमा बंधन, पत्नी परित्याग जैसे अनेक रीति-रिवाज ऐसे हैं, जिनमें स्पष्ट ही नारी को दूसरे दर्जे का नागरिक माना जाता है। पुरुष को जो अधिकार प्राप्त हैं, वे उसे नहीं मिल रहे हैं। उसकी स्थिति मनुष्य और पशु के मध्यवर्ती जैसी समझी जा सकती है। सभ्य समाज का समर्थ नागरिक की स्थिति में रहने का अवसर उसके हाथ से छीन लिया गया है और नर की क्रीतदासी जैसी भूमिका उसे निभानी पड़ रही है। आज तो

इस स्थिति का समर्थन कितने ही सामंतवादी तर्कों के आधार पर किया जाता है और इसके प्रतिपादन में धर्म तक की दुहाई दी जाती है, पर विवेक और न्याय की आत्मा इस स्थिति को असह्य बताती है। नवयुग में नर और नारी के संबंध स्नेह, सौहार्द्र और आदान-प्रदान के आधार पर मधुरतम बनेंगे, उसमें वर्तमान शोषण के लिए कोई स्थान न रहेगा।

एकता और समता की ही तरह नवयुग का तीसरा आदर्श है—सहकारिता—उसे संघबद्धता एवं सामूहिकता भी कह सकते हैं। व्यक्ति को संकीर्ण-स्वार्थों की परिपोषण की आपा-धापी नहीं करनी चाहिए वरन् अपने को समाज के एक छोटी इकाई भर मानकर, सार्वजनिक हित को प्रधानता देनी चाहिए। मिल-जुलकर रहना ही कौटुंबिकता है। यह सिद्धांत पीछे परिवार तक सीमित न रखकर व्यापक बनना चाहिए। आर्थिक क्षेत्र की सहकारिता के लाभ इन दिनों अधिक अच्छी तरह समझे जा रहे हैं और छोटे-बड़े संस्थान, व्यवसाय इसी आधार पर खड़े किये जा रहे हैं। सरकारी तंत्र भी उसे प्रोत्साहन और सुविधा देता है। संस्थाओं का गठन इसी आधार पर होता है। संयुक्त परिवारों की प्रथा तो इसका जीता-जागता स्वरूप है। साधु, ब्राह्मण, वानप्रस्थ लोकसेवी महामानव इसी सिद्धांत का प्रतिपादन करने और उसके लिए अपना आदर्श उपस्थित करने में लगे रहते हैं। जन-साधारण के सामने यह सम्माननीय देव पुरुष यह उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि व्यक्तिगत स्वार्थ को सामूहिक स्वार्थ के लिए उत्सर्ग किया जाना चाहिए।

विचारशील वर्ग में कम्यून परिपाटी लार्जर फैमिली-प्रयोगों के संबंध में बहुत चर्चा होती है और उसके लिए आधार सोचे और खड़े किये जाते हैं। भविष्य में व्यक्तिवाद को समूहवाद में परिवर्तित करने के लिए सहकारिता की सामूहिक प्रवृत्ति को ही क्रियान्वित करना होगा। विश्व-बंधुत्व का, विश्व नागरिकता का, सिद्धांत सहकारिता की प्रवृत्ति अपनाने पर ही संभव हो सकेगा। सहकारिता वैयक्तिक उत्कर्ष का और सामाजिक प्रगति का आधार भूत

सिद्धांत है। संकीर्ण स्वार्थपरता से ही समस्त दुष्प्रवृत्तियाँ पनपती हैं और अपराधों, आक्रमणों की बाढ़ आती है। सामूहिकता में एक-दूसरे के सहयोगी रहने, उदार व्यवहार करने का आदर्श अपनाना पड़ता है। इस तत्त्व दर्शन में प्रगति और शांति की संभावनाएँ होंगी।

नवयुग में अवतरण के अनुकूल समाज संरचना के लिए अनेक प्रकार के अनेकानेक रचनात्मक और सुधारात्मक कार्यक्रम अपनाने पड़ेंगे, पर उन सबके मूल में एकता, समता और सहकारिता की तीन प्रवृत्तियाँ ही प्रमुख हैं। इन्हीं की पूर्ति के लिए उन गतिविधियों का निर्धारण करना होगा, जो नवयुग की सुखद संभावनाओं को साकार कर सकती है।

❐ ❐

मुद्रक: युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा